महाभाव – दिनमणि श्रीराधाबाबा

(प्रथम खण्ड)

पृष्ठ संख्या 101-200 तक

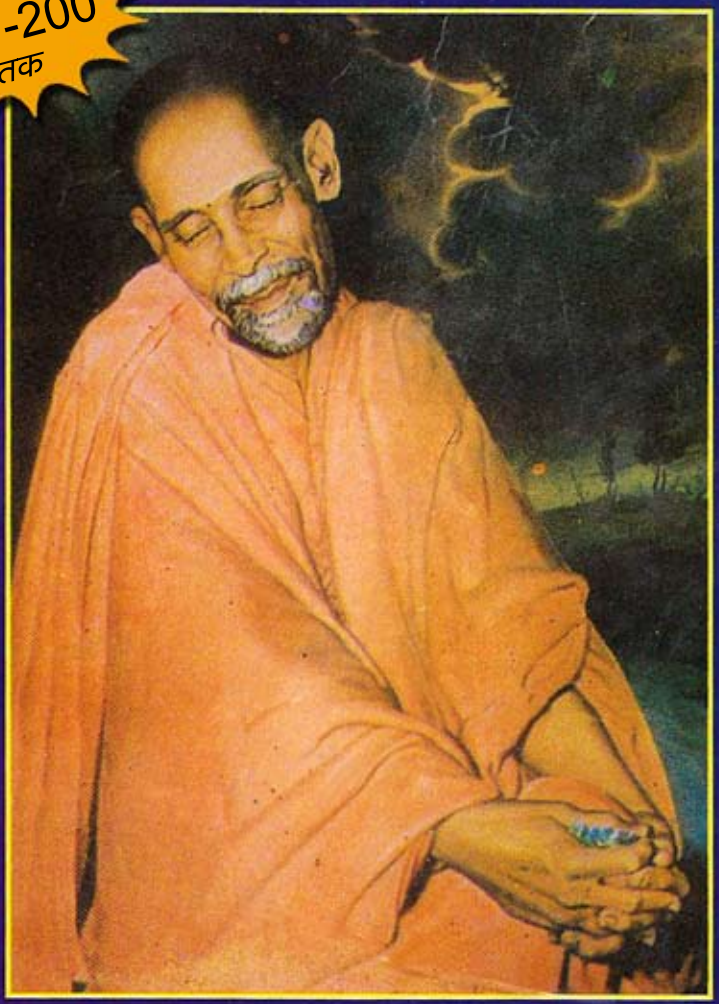

साधु कृष्णप्रेम

लिये भी जब तुम्हें नहीं देख पाती तो मेरे प्राण निकलने लगते हैं । मेरे स्पर्शमणि ! तुम्हें ही तो मैं अपने अंगो का भूषण बनाकर गले में धारण करती हूँ ।

पू० गुरुदेव के उरस्थल में प्रेम की पाठशाला प्रारम्भ हो गयी थी, उस पाठशाला में प्रेम पढ़ाने वाले शिक्षक थे श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारमहाराज और पढ़ने वाला सुयोग्य विद्यार्थी था पू० गुरुदेव का अप्राकृत महाभावरूप मन । इस पाठशाला का नाम क्या हो ? पू० गुरुदेव ने अपने मन से ही पूछा परन्तु जब उनका मन कुछ भी उत्तर नहीं दे पाया तो यही प्रश्न उन्होंने अपने प्राणवल्लभ नील सुन्दर से पूछ लिया । उत्तर में वे बोले नहीं, परन्तु उनके नयन सरोजों से अश्रु की बूँदें ऐसी ढ़लक पड़ीं कि उस पाठशाला का नाम "प्रेम-पाठशाला" अपने आप प्रकट हो गया ।

पू० गुरुदेव उसी प्रेमपाठशाला में पढ़ने लगे। उस पाठशाला में जो भी वर्णमाला पढ़ाई जाती है उसे उच्चारण कर लिखना होता है । उस वर्णमाला में पहला वर्ण था "कृष्ण" । इस वर्ण का उच्चारण करते-करते शेष संपूर्ण वर्णमाला का अपने आप ज्ञान हो जाता है । फिर पूज्य गुरुदेव उस वर्णमाला की आकृतियों को, उनके रंगो को अपने हृत्तल में अंकित करते गये।

'प्रेम पाठशाला' में किसी सन्त की यह उक्ति पू० गुरुदेव यावज्जीवन गाते रहे । यह पद उनके सर्वाधिक प्रिय पदों में से एक था । वे उन दिनों भी इस पद को प्राय: गुन-गुनाया करते थे । यह पद उन्हें सर्वप्रथम लेखक के पूर्वाश्रम के पू० मामाजी श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी ने सुनाया था :-

कृष्णनाम जबते श्रवणन सुन्यो री आली,
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।
भरि-भरि आवैं नयन, चितहू न परै चैन, मुखहू न आवे बैन
तन की दसा कछु और हू भई री ।।
जेतेक नेम धर्म कीने री मैं बहुत विधि,
अंग-अंग भई हौं तो श्रवन मई री ।।
नंददास जाके श्रवणन सुनत यह गति भई
माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई री ।।

पू० गुरुदेव का उन दिनों शरीर बहुत ही कृश हो गया था । वे राप्ती स्नान को जाते तो उनके पैर लड़खड़ाते हुए चलते । हनुमानगढ़ी के महन्तजी उनको रुग्ण जानकर बारबार उनके शरीर की दशा पूछते, परन्तु उन्हें तो शरीर का भान ही नहीं था । पू० गुरुदेव यद्यपि प्रतिदिन भिक्षा करते थे, परन्तु उनके शरीर में इतनी थकावट एवं कृशता होती, मानो वे एक पक्ष से निराहार ही रहे हों । वे मुख ढाँपे पड़े रहते, किसी से भी बात नहीं करते । उनके नेत्र सदा सजल रहते, वे अरुण रहते एवं कुछ कुछ सूजे हुए रहते। यह स्पष्ट संकेत था कि वे रातों जगते थे सो नहीं पाते। हनुमानगढ़ी के महन्तजी के बार-बार पूछने पर वे किञ्चित् मुसका देते। उनकी वाणी रुद्ध होने के कारण वे कुछ भी बोल नहीं पाते। श्रीमहन्तजी गुरुदेव को समझाने की चेष्टा करते कि जीवन इतना उपेक्षणीय नहीं है । उन्हें शरीर का ध्यान रखना चाहिए ।

परन्तु महन्तजी के समझाने के शब्द उनके कानों में भी नहीं प्रवेश कर पाते । उनके नेत्र तो कदम्ब की शीतल छाया में त्रिभंग सुन्दर नन्दनन्दन पर सुस्थिर रहते । पू० गुरुदेव की हृदय-वेदना एवं अन्तःसुख की संगमित अचिन्त्य धारा की अनुभूति उन समझाने वालों को कहाँ थी ? यह अनुभूति उनके लिये संभव नहीं थी । महंतजी, श्रीघनश्यामजी जालान को उनकी रुग्णावस्था की सूचना देते । वे पू० गुरुदेव को दवा करने का आग्रह कर देते। पू० गुरुदेव मौन रहते । वे समझते कि अति विरक्तावस्थावश दवा लेना नहीं चाहते । उन्हें भी पू० गुरुदेव के भीतरी भावों का तो ज्ञान हो ही नहीं सकता था ।

जिसके हृदय में श्रीकृष्णचन्द्र का दिव्य प्रेम जाग्रत होता है, केवल मात्र उसी को प्रेम के वक्र एवं मधुर पराक्रम का भान होता है, दूसरों को नहीं ।

वे प्रायः आकाश की ओर देखते रहते, उन्हें लगता - "यह नभस्वान् परम बड़भागी है । यह नभ, चाहे श्री कृष्ण कहीं भी हों, उनके बाह्य और अन्तर् दोनों कलेवर के भागों को संस्पर्शित करता रहता है। मेरे प्राणवल्लभ की अन्तस्तल की क्या रुचि है, वह इस नभ से कभी भी संगुप्त नहीं रह सकती। कहीं मुझमें भी ऐसी इस नभस्वान् जैसी योग्यता उदित हो जाती तो मैं नन्दनन्दन के भीतरी चित्त की वासना जानकर तदनुरूप उनको सुख दे पाती, उनकी रुचि में अपने को ढ़ाल पाती, उनकी सेवा कर पाती ।"

इस प्रकार पू० गुरुदेव के तीन माह का काल हनुमानगढ़ी में व्यतीत हुआ। उनकी वृत्ति कृष्णप्रेम में ऐसी लीन हो गयी कि एक पल भी फिर वहाँ से हटी नहीं ।

वेणुनाद श्रवण एवं पू० पोद्दार महाराज के स्वरूप, महत्व का बखान

उसके पश्चात् अहर्निश जो घटनाएँ वहाँ घटी प्रियतम
विवरण उनको अब कौन करे संचित् है हत्तल में प्रियतम
द्रुम पत्रावलि उन छिद्रों के पथ से आती, उससे प्रियतम
छू जाता चञ्चु, और उस पर अंकित कुछ हो जाती प्रियतम

(पद का अर्थ)

पू० गुरुदेव रूप विहंगम को श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार रूप पिंजरे में कैद करने के पश्चात् जो अहर्निश वहाँ घटनाएँ घटीं, उनका विवरण अब कौन करे वे पूज्य गुरुदेव के हृदेश में ही संचित् हैं । उस पिंजरे के छिद्रों के पथ से जो द्रुम पत्रावलियाँ आतीं उनसे उस विहंगम के चंचु छू जाते और उन पत्रावलियों में कुछ घटनायें अंकित हो जाती थीं । अर्थात् श्री पोद्दार महाराज के संगी साथी ही पू० गुरुदेव से कभी पूछ लेते तो वे उन घटनाओं के संबंध में कुछ बतला देते थे ।

भगवत्कृपा के परम कल्याणपूर्ण विधान ने, अब पू० गुरुदेव के जीवन में एक नया द्वार खोला । हनुमान गढ़ी के उस कदली वन में रस की तरंगिणी बह चली । एक दिवस संध्या के समय मन ही मन कृष्ण-कृष्ण की आवृत्ति करते हुए पू० गुरुदेव उन्हीं कदली वृक्षों के उपवन में बैठे थे, जहाँ उन्हें प्रथम श्रीकृष्ण के दर्शन हुए थे । सहसा इसीसमय श्रीकृष्ण की वंशी बज उठती है । वंशीरव पू० गुरुदेव के कानों में प्रवेश करता है । ओह ! यह अमृत निर्झर ! यह सुधा प्रवाह !! कहाँ से ? किस ओर से ? उनका संपूर्ण शरीर थर-थर काँपने लगता है । जैसे शीतकाल में उन पर हिम की वर्षा हो रही हो, साथ ही अंगों से प्रस्वेद की धारा बह चलती है । यह प्रस्वेद की धारा इतनी अधिक मात्रा में तड़-तड़ बहती है मानो ग्रीष्मताप उनके अंगों के

अणु अणुको उत्तप्त कर रहा हो । कानों पर हाथ रखकर वे विस्फारित नेत्रों से इधर-उधर देखने लगते हैं । थोडी ही देर में उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि उस उपवन के वृक्ष, राप्ती का प्रसरित बालुका पूर्ण तट, वहाँ का आकाश, वायु, जल, पृथ्वी और सूर्य की रश्मियाँ सभी उस नाद से प्रतिनादित हो रहे हैं। पू० गुरुदेव की संपूर्ण चेतना विलय बिन्दु की ओर बढ़ने लगी और वे अचिन्त्यावस्था में गहरे समाहित हो जाते हैं ।

कुछ काल पश्चात् जब उन्हें पुनः होश आता है तो वे सोचने लगते हैं, ये कदली वृक्ष कैसे चमत्कारी हैं ! इनके अन्तराल से न जाने कैसी वह मधुरातिमधुर दिव्य वेणु-ध्वनि आयी और मेरे कानों में प्रविष्ट हो गयी ।

आह ! कदाचित् उस अमृत निर्झर के उद्गम को मैं देख पाता ! हाय ! वह कैसा वंशी निनाद था ? इस प्रकार विचार करते-करते वे पुनः अचिन्त्यावस्था में प्रविष्ट हो जाते हैं ।

श्रीकृष्ण के प्रथम दर्शन के पश्चात् उनका श्रीविग्रह स्वप्न अथवा जाग्रत किसी भी अवस्था में उनकी दृष्टिपथ से हटता नहीं था । पहले वह बोलता नहीं था । पीछे उसने बोलना प्रारम्भ कर दिया । उनकी वाणी इतनी मधुरातिमधुर होती कि गुरुदेव के अंग अवश हो जाते । उनका बाह्यज्ञान विलुप्त हो जाता, सर्वांग अवश हो जाते । उनका रोम रोम पुकार उठता - "आओ, प्रियतम ! प्राणेश्वर !! आओ ! स्वामिन् ! नाथ ! एक बार ही नहीं, अनन्त काल तक इस दासी से आपके हृदय की जो भी रहस्यमयी वार्ता हो वह अनवरत करते रहो ।"

वह मूर्ति पू० गुरुदेव से जो भी बात करती, वह श्रीपोद्दार महाराज की महिमा का ही बखान होता ।

पू० गुरुदेव कहा करते थे कि पू० श्री पोद्दार महाराज की जो उच्च से उच्च भाव-भूमि और स्थिति है इसके संबंध में जो कुछ मेरी श्रद्धा है वह सब श्रीकृष्ण के द्वारा बतायी हुई उनकी महिमा के आधार पर ही है । श्रीपोद्दार महाराज तो प्रायः ऐसा आचरण करते थे कि जिससे उनके प्रति मैं अश्रृद्धा करलूँ । श्री पोद्दार महाराज पहले तो वैसा आचरण करते, फिर अतिशय प्यार से मुझे अपना सुगुप्त रहस्य भी खोलकर बता देते ।

श्री पोद्दार महाराज इसे स्वीकार कर लेते कि भगवान की जो मुझ पर सीमा विहीन कृपा है, उस कृपा का रहस्य कहीं अनावृत नहीं हो जाय - वह कृपा मेरा सदा सुगुप्त धन बना रहे, इसी कारण मेरे द्वारा वैसा आचरण हो

जाता है जिसे अनुचित कहा जाता है । श्री पोद्दार महाराज अपने को इसी प्रकार ऐसे अटपटे आचरणों से संगुप्त रखते थे । वे अनेकों बार ऐसा आचरण कर जाते किन्तु जब श्रीकृष्ण मेरे सम्मुख उस आचरण का रहस्य खोलते तो वह आचरण जगत के लिये इतना कल्याणकारी सिद्ध होता कि उस पर करोड़ों सदाचार बलिहार कर दिये जावें । कहने का इतना ही अर्थ है कि संगोपनप्रिय पोद्दार महाराज के रहस्य-गर्भित आचरण इसी प्रकार अटपटे होते थे । परन्तु उसी समय श्रीकृष्ण प्रकट होकर मुझे सचेत कर देते थे और वे उनकी उस क्रिया का इतना विलक्षण महाकल्याणकारी प्रभाव बताते कि मैं मुग्ध और चकित हो जाता था । श्री पोद्दार महाराज के प्रति मेरी श्रद्धा स्वयं श्रीकृष्ण ने उनका हृदय रहस्य खोल-खोल कर ही बढ़ायी है । अन्यथा उनके बाह्य-आचरणों से उन पर श्रद्धा करना मेरे लिये सर्वथा असंभव था ।

हनुमानगढ़ी में जब तक पू० गुरुदेव रहे भाव-समुद्र का अनिर्वचनीय अभिनव उच्छलन उनके हृदय-स्थल में होता रहा । उस रसप्लावन ने गुरुदेव को निमग्न कर दिया । उनके मन-प्राण सबकी दिशा ही बदलगयी । उत्तरोत्तर रसानुभूति के गंभीर-गंभीरतर आवर्तों में वे नाचने लगे । उनकी आँखों से गोरखपुर नगरी एवं राप्ती नदी का दृष्य ही बदल जाता और वे क्षण-प्रतिक्षण अनुभव करते - "परम रमणीय वृन्दावन ही चतुर्दिक है । कैसी अद्‌भुत बात है, मैं जिधर देखता हूँ उधर ही अप्रतिम अनुराग के निर्झर झर रहे हैं । सर्वत्र अप्राकृत भावोच्छ्वास की उन्मत्त पयस्विनी ही प्रसरित हो रही है । उनका रोम-रोम अति आकुल हुआ पुकारता रहता-"हे व्रज के चन्द्रमा ! हे मेरे जीवन सर्वस्व !! सुखी रहो तुम । तुम्हारे सुख-संवर्धन की भूमिका का निर्माण ही सदैव मेरे द्वारा होता रहे । कभी स्वप्न में भी तुम्हारी रुचि के विपरीत न तो मैं कुछ सोचूँ-विचारूँ, न ही मेरा मन ही वैसा हो, फिर आचरण का तो प्रश्न ही नहीं ।"

पू० गुरुदेव ज्यों ही ब्रह्म मुहूर्त में जगते - उनकी पलकें खुलते ही उनका पहला दृश्य होता व्रजेन्द्रनन्दन का मुसकाता मुखचन्द्र । उनके हृदय में अपने प्रियतम के मुखचन्द्र को देखते ही परमानन्द-सिन्धु उच्छलित हो उठता । परन्तु वह परमानन्द-सिन्धु उनके लिये स्व-सुख-वासना को बढ़ाने वाला, अथवा स्वसुख-भोग की स्पृहा जगानेवाला सर्वथा-सर्वथा नहीं होता । वह परमानन्द-सिन्धु उनके हृदय से निस्सरित हुआ उनके प्रियतम को सुख देने उमड़ चलता । इस रसप्रवाह में निमज्जित उनके प्राणवल्लभ

नवनीरदवर्ण मुरलीमनोहर की मधुरिमा और सौन्दर्य क्षण-क्षण बढ़ता रहता । इस सौन्दर्य और मधुरिमा का दर्शन उनके अन्तःकरण में और अधिक आनन्दोच्छलन करता और वह उच्छलन पुनः उनके प्रियतम के अनन्त संविन्मय कल्याणमय गुण-गणों को बढ़ा देता । इस प्रकार पू० गुरुदेव के हृदय-देश में अंकित उनके प्रियतम की छवि प्रतिक्षण अतिशय नव-नव लीला-विलास की अप्रतिम सुन्दर भंगिमाओं से विभूषित होती रहती । उनकी गुणगरिमा ज्यों-ज्यों परिवर्धित होती त्यों-ही-त्यों फिर पू० गुरुदेव के हृदय में आनन्द उच्छलित होता । इस प्रकार इस आह्लाद का उत्तरोत्तर अभिवर्धन ज्यों-ज्यों होता त्यों-ही-त्यों उनके प्रियतम की गुण-गरिमा, मनोहरता, रूपमाधुरी भी बढ़ती जाती ।

पू० गुरुदेव की दृष्टि अपने प्रियतम के बिम्ब-विडम्बी अधरों की अप्रतिम शोभा निहारने लगती । वे देखते कि उनके मृदु मुसकान की मधुरता प्रतिपल नवीन-नवीनतर हो रही है । और उनकी वाणी तो इतनी रसमयी है कि मानो सुधा की सरिता ही बह चली हो । उन्हें अनुभव होता मानो नन्दनन्दन उन्हें कुछ कहना चाह रहे हैं । उनकी मन-इन्द्रियाँ मानो सब सिमट कर केवल कर्णेन्द्रियों में ही समाहित हो जातीं। वे सुनने लगते और पाते कि श्रीकृष्ण श्रीपोद्दार महाराज का यश-कीर्तन करने में ही उत्सुक और लालायित हो रहे हैं ।

यहाँ यह बात निरन्तर ध्यान में रखनी है कि पू० गुरुदेव का मन उन दिनों अप्राकृताविष्ट था । बात यह है कि प्राकृत राज्य के प्राणी में जिसका मन प्राकृत है भगवान का अप्राकृत स्वरूप प्रकट हो नहीं सकता । अतः जब किसी भाग्यवान् को भगवान् परात्पर श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं, उस समय महज्जन कृपा अथवा भगवत्कृपा उसके मन पर अप्राकृत आवरण अवतीर्ण कर देती है । तभी वह पात्र होता है कि उस अप्राकृत राज्य के रूप का दर्शन कर सके, उस अप्राकृत राज्य के शब्द, वेणुनिनाद अथवा श्रीकृष्ण की परम चिन्मयी भगवद्वाणी को सुन सके, श्रीकृष्ण का परम चिन्मय संस्पर्श पा सके, उनके अंगों की गंध सूँघ सके, उनका अधरामृत प्रसाद ग्रहण कर सके । साधारण मानव मन के लिये उस अप्राकृत राज्य के रूप की, वस्तु की, कार्य-व्यापार की कल्पना करना भी सर्वथा असंभव है । वह पूर्णतया कल्पनातीत है ।

अतः हम सभी विषयी जीवों का मन श्रीकृष्ण की बोली में कितनी मधुरता, सत्यता, पवित्रता एवं सुन्दरता थी - इसका अनुमान ही नहीं कर सकता, फिर कोई उसका शब्दों द्वारा आकलन करे यह तो सर्वथा-सर्वथा असंभव है ।

पू० गुरुदेव अनेक बार यह बता चुके हैं कि प्राकृत मन से अप्राकृत वस्तु की प्राप्ति कैसे हो ? वे कहते थे - यह मन भी प्राकृत है और बुद्धि भी प्राकृत है । इस मायाजगत की किसी भी वस्तु की गति उस मायातीत राज्य में है ही नहीं । माया जगत के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से मायातीत जगत के शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध सर्वथा भिन्न हैं । माया जगत की इन्द्रियों से ये सर्वथा अग्राह्य हैं । माया जगत की इन्द्रियों की वहाँ गति ही नहीं है । पर ये इन्द्रियाँ स्वयं को समाप्त कर सकती हैं । जहाँ इस प्राकृत मन की समाप्ति हुई, वहीं वह अप्राकृत राज्य स्वतः अवतरित हो जाता है । और इसका साधन है एक मात्र महत्कृपा अथवा भगवत्कृपा । यह पुरुषार्थ द्वारा साध्य नहीं । भगवान् और रससिद्ध सन्त दोनों ही बहुत उदार होते हैं । यदि कोई अपने को सर्वथा भगवान पर अथवा किसी भी महत् सन्त पर न्यौछावर कर दे तो भगवान् उसकी कामना अवश्य पूरी कर देते हैं। भगवान किसी की आशा खंडित नहीं करते । अप्राकृत राज्य में प्रवेश की एक मात्र यही साधना है, एवं यही उस अप्राकृत राज्य के अवतरण का एक मात्र उपाय है।

भगवान जब नर-वपु धारण करके नरलीला करते हैं, अथवा भगवान् के लीला राज्य में प्रविष्ट श्रीपोद्दार महाराज जैसे सन्त जब तक इस शरीर में है, वे देखते, विचारते, छूते, एवं संकल्प भी उसी प्रकार करते हैं जैसे साधारण जीव करता है, परन्तु उस सन्त अथवा भगवान् का वह कार्य-व्यापार मानवीय कार्य-व्यापार से सर्वथा-सर्वथा भिन्न होता है । सन्त एवं भगवान की विरुद्ध धर्माश्रयता ही उनकी परम विशेषता होती है ।

क्या कोई कल्पना कर सकता है कि अनन्त प्रकाश और अनन्त अन्धकार एक साथ एक देश में रह सकते हैं ? कोई भी व्यक्ति कैसे कल्पना करेगा कि विपरीत लोक-व्यवहार का आचरण करता हुआ वह व्यक्ति नित्य-अखंड परम विशुद्ध सत्व परायण है । उपनिषदों में यह कथा आती है कि दुर्वासा ऋषि गोपियों के द्वारा षड्रस व्यंजन भोजन कराने पर भोजन करने के उपरान्त भी कहते हैं कि मैं दूर्वा ही खाता हूँ एवं वे श्रीकृष्ण के

संबंध में भी गोपियों से कहते हैं कि श्रीकृष्ण बाल-ब्रह्मचारी हैं जबकि गोपियाँ उनसे अंग-संग एवं विहार करके लौटती हुई दुर्वासाजी के पास बढ़ी हुई यमुना से निस्तरण का उपाय पूछने आती हैं । दुर्वासा गोपियों से यही कहते हैं कि यमुनाजी से कहना दुर्वासा दूर्वाभक्षी है और श्रीकृष्ण अखण्ड़ ब्रह्मचारी हैं, इस सत्य के प्रभाव से हमें रास्ता दे दो । बढ़ी हुई यमुना तत्क्षण घट जाती है और गोपियाँ यमुना पारकर दूसरे तट पर पहुँच जाती हैं ।

अत: पू० गुरुदेव कहा करते थे कि अप्राकृत मन की प्राप्ति के पश्चात् ही मानव संत-जीवन की विलक्षणता एवं भगवत्लीला को, लीला के तत्व को, उसके रहस्यों को समझ पाता है एवं उनका रस ले पाता है ।

अब इस प्रसंग पर आगे विचार करते हैं कि साक्षात् रसराज परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण अपनी मधुस्यन्दी वाणी में पू० गुरुदेव से श्रीपोद्दार महाराज की क्या स्तुति करते थे ?

यह प्रसंग लेखक के पूर्वाश्रम के मामाजी श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी की डायरी में लिखा था । बात यह थी कि जब-जब श्रीकृष्ण पोद्दार महाराज की स्तुति करते पू० गुरुदेव उसे एक कागज में लिपिबद्ध कर लेते थे और उसे माला की तरह अपने गले में धारण किये रखते थे। कभी-कभी ये प्रसंग वे मेरे मामाजी आदि अनेक महाभाग्यवान् कृपा-पात्रों को सुनाते थे। पू० मामाजी ने उसे अपनी डायरी में उद्धृत कर लिया था । एक दिवस वह डायरी लेखक को पढ़ने को प्राप्त हो गयी । उसी में से ये प्रसंग लेखक ने उतारकर अपने पास रख लिये थे । श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी की मृत्यु के पूर्व ही लेखक सन्यासी हो गया था, अत: उसे अब ज्ञात नहीं है कि वह डायरी फिर किसके हाथ लगी । यहाँ नीचे भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पोद्दार महाराज की महिमा में कही वाणी उद्धृत है :-

"यह कोई भी ठीक-ठीक नहीं बता सकता पोद्दार महाराज रूप जीव क्या है ? यदि इसके सम्बन्ध में कुछ भी निर्वचन किया जा सकता है तो मात्र इतना ही कि यह है मात्र मेरा सुख, पूर्णतया शतप्रतिशत मात्र मेरी रुचि में ढली मूर्ति । यह मूर्तिमान मेरी रुचि-पूर्ति का विरल यंत्र है। जीव होते हुए भी यह इतना विशुद्ध हो गया है कि मलिन कामोपभोग की कल्पना का लेश भी इसके चित्त में प्रवेश नहीं पा सकता । यह खाता-पीता है, देखता-सुनता है परन्तु इसके सभी इन्द्रिय-व्यापार मुझसे एकमेव घुले-मिले होकर ही होते हैं। अत: यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि इसके शरीर और इन्द्रियों का

सचालन इसके द्वारा हो रहा है, यह मुझमें इतना घुला मिला है कि इसके शरीर मन-बुद्धि और इन्द्रियों एवं प्राणों का भी यथायोग्य संचालन मैं स्वयं ही करता हूँ ।"

"यह ऐसी परम सुन्दर महा कल्याण-वर्षिणी नदी है, जो अनवरत प्रवाहित हो रही है मेरी शुभच्छा पूर्ति के लिये । इसके इन्द्रिय समूह, इसका शरीर, इसका मन, इसकी बुद्धि, इसके प्राण, इसका अहं ये सभी यंत्र-चालित से मुझ यंत्री द्वारा ही संचालित होते हैं क्योंकि यह सदा-सर्वदा स्वरूप से मुझसे एकमेक है ।"

"इसका जीवन परम एवं चरम त्यागमय है और सर्वसमर्पणमय है । परम एवं चरम त्याग का क्या वास्तविक स्वरूप होता है ? सर्व समर्पणमय उज्ज्वलतम प्रेम का क्या आदर्श है ? स्वसुखवाञ्छाविरहित प्रियतम-सुखेच्छामय स्वभाव किसे कहते हैं ? अहं की चिन्ता और मंगलकामना की तो बात ही छोडें, अहं की स्मृति से भी शून्य प्रियतम स्मृतिमय जीवन कैसा होता है ? पोद्दार महाराज ने अपने प्रत्यक्ष जीवन से इसका एक नित्य चेतन, क्रियाशील, मूर्तिमान उदाहरण प्रस्तुत करके जगत के इतिहास में एक अभूतपूर्व दान किया है। ऐसा दान भूतकाल में भी विरला ही हुआ है और इस कलिकाल में तो असंभव है ।"

"ठीक समझ लो, पोद्दार महाराज मेरा ही स्वरूप हैं, मेरी दूसरी प्रतिमूर्ति हैं। मेरी ही भाँति इनमें मेरे समस्त भगवदीय गुणों का भी प्राकट्य है। परन्तु इसके स्वभाव की यही विलक्षणता है कि यह अपने में इन सर्वोच्च गुणों का अभाव देखता है । यह अपने को सर्वथा सब विधि कुरूप, कुत्सित, शील-गुणरहित एवं दोषों से भरा ही अनुभव करता है, परन्तु यथार्थमें है मुझे रिझाने वाले समस्त गुण-गणों का अगाध, अपरिसीम, अनन्त भण्डार । यह अपने को कभी मेरे योग्य नहीं समझता, सदा सकुचाता रहता है, यह अपने को दोषागार मानकर सदा मेरे सम्मुख अतिशय लज्जा और धिक्कार का भाजन अनुभव करता है । परन्तु न तो इसका यह दैन्य और अपने को हीन देखना केवल अभिनय एवं दम्भाचरण है और न ही इससे इसके गुणों की महानता में कहीं कोई न्यूनता ही आती है । यह कुछ भी समझे, कुछ भी बोले, है यह मुझे रिझाने वाले समस्त गुण-गणों का अगाध, अनन्त असीम भण्डार । इसका वास्तविक स्वरूप शिव, ब्रह्मादि देव-गणों के समान स्तुत्य, नारद, सनत्कुमारादि के समान भक्तिमान् एवं श्लाघ्य, वशिष्ठ, व्यासादि

महापुरुषों के समान वन्दनीय, याज्ञवल्क्य, शुकदेवादि ज्ञानियों जैसा सेवनीय, निर्मल परम गौरवमय और महामहिमामय है । फिर भी इसमें अपने गुणों का सर्वथा अभिमान नहीं है, इसका यह वास्तविक दैन्य मुझे सर्वाधिक प्रिय है।"

कभी कहते - "तुझे विश्वास करना चाहिए इस पोद्दार महाराज जीव के हृदय से मैं एक क्षण के लिये भी नहीं हटता । मेरी ध्यानमूर्ति नहीं, मैं स्वयं इसके हृदय में परम विश्राम पाता हूँ । इसका अन्तःकरण मेरा साक्षात् धाम है। जब भी यह नेत्र मूँदता है, उस समय इसकी पलकों के भीतर मुझे निज मुस्कान बिखेरनी ही पड़ती है । यह स्वप्न देखता है, तब भी मैं इसके स्वप्नों में भी रहता हूँ । इसके जीव-शरीर के ढाँचे के भीतर अहंता, ममता, देहाध्यास, जगत का अध्यास, लोक-वेद की भावना, भोग-मोक्ष की स्पृहा कुछ भी तो नहीं है । मेरे विरह की अग्नि में सब जलकर खाक हो गयीं । फिर मेरे मिलनानन्द की अजस्र-धारा में उसकी राख भी बह गयी । तत्पश्चात् मेरे प्रेम की प्रबल रसधारा ने उसकी गंध का लेश भी नहीं छोड़ा । अब वहाँ मात्र मेरा प्रेम ही लहरा रहा है । तरंगों पर तरंगें उठ रही हैं । वे तरंगें भी मेरा ही रूप धारण किये मुझे ही नहला रही हैं।"

"मेरे जिस सगुण-साकार स्वरूप के जो तुझे दर्शन हुए हैं, वे किसी भी साधना का सर्वथा फल नहीं हैं । अद्वैत-तत्व-निष्ठा से करोड़ों कल्पोंपर्यन्त साधना करने पर भी तुझे मेरे इस स्वरूप के दर्शन कदापि कदापि नहीं होते। परन्तु तेरे जीवन में व्रजभाव का वपन किया पोद्दार महाराज ने । यह व्रजभाव सम्पन्न इतने उच्च कोटि का सिद्ध-भक्त है कि इसके कृपा-प्रसाद से ही तुझ निराकारवादी अद्वैत-तत्वनिष्ठ के जीवन में मधुरभावापन्न रसोपासना की सुधामयी धारा प्रवाहित हुई ।"

"पोद्दार महाराज के देह को मैने पूरा अपना यंत्र बना रखा है । अतः कभी तो इस देह का नियन्ता मैं गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण हो जाता हूँ । कभी गीतातत्वोपदेशक चतुर्भुज नारायण के रूप में इस देह से अपनी संकल्प-पूर्ति कराता हूँ । इस प्रकार इसमें से भिन्न स्वर बजते हैं । कभी इस देह-यंत्र से असीम कृपा-माधुर्य, परम सुकोमल दयाभरे स्वर बजते हैं, कभी कठोर गरजते स्वर भी बज उठते हैं, इसमें इसका स्वभाव-वैचित्र्य सर्वथा नहीं है । यह स्वयं तो कुछ है ही नहीं । जिस समय जैसे पात्र से जो भी लीला मुझे करनी होती है, उस समय इस पोद्दार महाराजरूप यंत्र के अन्तराल से मैं वैसी लीला मुखरित कर बैठता हूँ । इसमें इसका स्वयं का स्वभाव-वैचित्र्य सर्वथा नहीं

है। यह तो कुछ है ही नहीं । जो कुछ भी कभी था, पूरा मुझसे अभिन्न हो गया। अतः यह कभी महामोही गृहस्थसा आचरण करता दृष्टिगोचर होता है, कहीं महात्यागी तपस्वी विरक्त दिखता है, कहीं रागी, कहीं भोगी, कहीं महाज्ञानी, समझ में आता है । वास्तव में यह स्वयं में कुछ भी नहीं है । यह तो मात्र यंत्र है, और मैं यंत्री इसमें से जैसे स्वर बजाता हूँ वे ही स्वर इसमें से निकलते हैं । इसकी यही विलक्षण चरित्र शोभा है । इसमें स्वयं का कहीं कोई आग्रह ही नहीं है कि यंत्र को अमुक एक प्रकार से ही बजाया जाय । यह तो मेरे सुख एवं मेरी रुचिका संकेत पाते ही जैसा मैं चाहता हूँ , सांगोपांग वैसा ही नाटक कर जाता है । और मैं 'वाह' कर बैठता हूँ। और मेरा सुख ही इसकी कृतकृत्यता है ।

इस प्रकार चार पाँच माह जब तक पू० गुरुदेव हनुमानगढ़ी नामक स्थान पर रहे श्री कृष्ण प्रत्यक्ष प्रकट होकर उन्हें सन्त रहस्य, लीलारहस्य एवं सगुण साकार स्वरूप के तत्व रहस्य की बातें बतलाते रहे । श्री पोद्दार महाराज के माहात्म्य की बातें इतनी महत्वपूर्ण होती थीं कि पश्चात् पू० गुरुदेव उनको कागजों में लिखकर उसकी माला बनाकर पहने रहते ।

भागवती संकेतों की होली

(यह प्रसंग लगभग सात वर्ष आगे का है, सन् १९४३ ई० का रतनगढ़ का जब पू० गुरुदेव भी पोद्दार महाराज के साथ यावज्जीवन रहने का व्रत लेकर जुड़ गये थे)

प० पू० पोद्दार महाराज में आत्म संगोपन की प्रवृत्ति अत्यधिक प्रबल थी। उनकी हर संभव चेष्टा यही रहती थी कि संसार उनको मात्र एक साधारण गृहस्थ ही समझे और अधिक से अधिक कोई श्रद्धा करे भी तो उसकी इतनी ही श्रद्धा परिपुष्ट हो कि ये एक साधक गृहस्थ हैं और श्रीजयदयालजी गोयन्दका की छत्रछाया में अन्य साधकों के समान मात्र साधना ही करते हैं । उनकी दिव्य भागवती स्थिति को कोई भी जान नहीं पावे । वे तो पू० गुरुदेव को भी अपने किसी महत्व की गंध नहीं देते, परन्तु पू० गुरुदेव तो भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उनका सब अप्रकट गुप्त रहस्य जान लेते थे ।

एक सज्जन थे श्रीशिवकुमारजी केडिया । आप श्रीवृन्दावन-धाम में वास करते थे । श्री केड़ियाजी अच्छे साहित्यिक विद्वान् थे । पू० गुरुदेव और श्रीपोद्दार महाराज के प्रति उनके मन में बहुत ही आदर का भाव था । सत्संग की दृष्टि से वे पू० श्रीपोद्दार महाराज के पास आया करते थे । उन्होंने 'वृन्दावन शतकम्' नामक संस्कृत में एक काव्य भी लिखा था ।

एक बार वे वृन्दावन से रतनगढ़ सत्संग लाभ के लिये आये थे। अवसर पाकर उन्होने पू० गुरुदेव से प्रार्थना की कि वे श्रीपोद्दारजी की आध्यात्मिक स्थिति के बारे में कुछ बतलावें ।

रतनगढ़ में सत्संगी जनों में प्राय: ऐसी चर्चा होती ही रहती थी कि श्री पोद्दार महाराज की आध्यात्मिक स्थिति के सम्बन्ध में जितना पू० गुरुदेव जानते हैं उतना अन्य कोई नहीं । श्रीपोद्दार महाराज से परमार्थ सम्बन्धी पू० गुरुदेव की कोई गुप्त सत्संग वार्त्ता होती थी सो बात सर्वथा नहीं थी। पू० गुरुदेव तो प्राय: एकान्त में अपने कक्ष में ही रहते थे एवं श्री पोद्दार महाराज अपने सम्पादन कार्य में निरत रहते थे । पू० गुरुदेव को जो कुछ भी मिलता था, वह उनसे स्वत: मिलता रहता था, बिना कहे अपने आप मिलता रहता था। श्री पोद्दार महाराज द्वारा पू० गुरुदेव को जो भी परमार्थ दान अथवा रस-भाव दान होता था वह स्वत: बिना किसी प्रयास के ही होता था । श्री पोद्दार महाराज ने उन्हें अपना सर्वस्व दान ही कर दिया था, परन्तु वह किया था, स्वत: सर्वथा ही दाता का भाव न रखकर, इसे उनकी अहंकार-शून्यता का परम निर्मल प्रकाश ही मानना चाहिये।

जब श्री केडियाजी ने पू० पोद्दार महाराज की आध्यात्मिक स्थिति के बारे में जिज्ञासा की तो पू० गुरुदेव दुविधा में पड़ गये। उनके मन में एक ओर तो इस निधि को अत्यधिक सुगुप्त रखे रहने का भाव कार्य कर रहा था, दूसरी ओर यह भाव भी था कि कहीं किसी सच्चे जिज्ञासु की भावना का अनादर नहीं हो जाये । अत: पू० गुरुदेव ने श्री केडियाजी की परीक्षा लेनी चाही । उनकी चाह की उत्कटता की परीक्षा लेने के लिये पू० गुरुदेव ने उनसे एक लाख नाम-जप एक माह तक प्रतिदिन करने को कहा । श्री केडियाजी ने पू० गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य करली ।

वे एक मास तक निष्ठापूर्वक 'हरे राम' षोड़श महामंत्र की चौसठ माला प्रतिदिन फेरने लगे । अभ्यास नहीं होने से उनका मन ऊबता भी था, परन्तु किसी दिव्य वस्तु की प्राप्ति के लोभ में वे इस कार्य में निरत रहे ।

पू० गुरुदेव उनकी लगन और निष्ठा देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए एवं उन्होंने श्री केडियाजी को अनेक दिव्य बातें लिखकर दे दीं । यह लेखन फुलस्केप साइज के कागजों में लगभग चालीस पृष्ठ था ।

श्री केडियाजी ने इसे अपना परम सौभाग्य माना । इन दिव्य बातों को पढकर उन्हें बहुत ही आश्चर्य हो रहा था । आखिर श्री केडियाजी थे तो इस कलिकाल में जन्मे प्राणी ही । उनका मन इतनी बड़ी बातों को पचा नहीं पाया । पू० गुरुदेव की इन उक्तियों की सत्यता को जाँचने का उनका भाव प्रबल हो उठा । उनके पास उन्हें जाँचने की और दूसरी कोई कसौटी तो थी नहीं । उन्होंने सोचा क्यों न इन चालीस पृष्ठों में जो बातें पू० गुरुदेव ने लिखी हैं उन पर श्री पोद्दार महाराज की मोहर लगवा ली जाय ।

इस थोड़ी सी अश्रद्धाजनित भावहीनता ने श्रीकेडिया के द्वारा एक बड़ी भूल करवा दी । उन्होंने वे चालीसों पृष्ठ पू० पोद्दार महाराज को दे दिये और यह भी बता दिया कि इस (पू० गुरुदेव द्वारा लिखित) सामग्री को उन्होंने किस प्रकार प्राप्त किया है । उन पृष्ठों को पढकर पू० श्री पोद्दार महाराज ने इस प्रकार से उन्हें उपेक्षापूर्वक वापस कर दिया जैसे वे सर्वथा महत्वहीन हों, साथ ही यह भी कह दिया कि "बाबा (पू० गुरुदेव) तो सन्यासी एवं भावुक हैं । व्यावहारिक जगत से उनका कोई सम्बन्ध अथवा संपर्क रहता नहीं है । रात-दिन जगत से परे की बातें सोचते रहते हैं । ये बातें सर्वथा सारहीन हैं। सच्ची बात तो यह है कि यह सब मात्र थोथी भावुकता है । मैं तो मात्र एक साधारण गृहस्थ साधक हूँ । साधना करता हूँ और शास्त्रों की बात प्रवचन सत्संग में कहता हूँ ।"

श्रीकेडियाजी का पेट तो पहले ही छोटा था । इतनी कल्पनातीत उच्च-अवस्था की बातों को हृदयंगम करना उनके लिये संभव था ही नहीं और अब जब श्रीपोद्दार महाराज ने स्वयं ही उन सब बातों का निषेध कर दिया तो केडियाजी ने उन्हें पू० गुरुदेव के थोथे भावुक मन की उड़ान ही मान लिया । श्री केडियाजी के मन में पू० गुरुदेव के प्रति जो उच्च श्रद्धा थी वह ही अब नहीं रही थी, वह भी डगमगा गयी थी । उन्होंने यही मान लिया कि ये मात्र भावुक उडानें भर कर लोगों को भ्रमित करते हैं, पू० पोद्दार महाराज की चाटुकारी भर करते हैं । श्रीपोद्दारजी यदि इनकी बातों में तनिक सा भी सत्य तथ्य पाते तो उन्हें मेरे सम्मुख स्वीकार कर लेने में आपत्ति ही

.क्या थी । मेरे सम्मुख वे असत्य का आश्रय क्यों लेते । मैं तो उनका विश्वासी श्रद्धालुजन हूँ । वृन्दावन छोड़कर उनके पास आता हूँ ।

इधर तो श्री पोद्दार महाराज ने केडियाजी को उन बातों के संबंध में पू० गुरुदेव की थोथी भावुकता है - यह टिप्पणी की एवं उधर वे पू० गुरुदेव के पास जाकर एकान्त में उन्हें संकेत दे आये कि "केडियाजी -ऐसी बातें जानने के अधिकारी सर्वथा नहीं हैं एवं आपको लिखकर तो कभी भी ऐसी बातें किसी को भी नहीं देनी चाहिए ।"

श्रीपोद्दारजी का पू० गुरुदेव को इतना संकेत पर्याप्त था । उन्होंने श्री केडियाजी को तुरन्त बुलवाया और कहा कि "जो मैंने आपको लिखकर दिया है, उसमें कुछ संशोधन करना है । आप एक बार वह सब मुझे लौटा दीजिए।" श्री केडियाजी ने वह सामग्री सहर्ष पू० गुरुदेव को सौंप दी । उस सारी सामग्री के प्रति अब उनका आदर भाव ही नहीं रह गया था । श्रीकेडियाजी ने वह सामग्री निरर्थक तो मान ही ली थी अतः न तो उसे पुनः माँगी और न ही पू० गुरुदेव ने उन्हें फिर उसे लौटायी ।

बाहर समीर उस पथ से ही उसको फिर ले जाता प्रियतम !
सौरभ से सनी हुई उसकी मोहकता अब बढ़ती प्रियतम !
पर गन्धफली का वह वन था, भौंरा कैसे आवे प्रियतम !
फिर थी बिखरी पत्रावलि, ले उद्दाम पवन भागा प्रियतम ।।
पंकिल थल में कुछ नष्ट हुई, काँटों की झाड़ी में प्रियतम !
कुछ गिरी बचीं फिर भी कुछ थीं, पर था विधान ऐसा प्रियतम !
हो जायँ लुप्त अंकित बातें, लीला की तुमने ही प्रियतम !
दावा की एक लहर आयी स्वाहा हो गयी सभी प्रियतम।।

(भावार्थ)

उन बातों को उस पिंजर-पथ से ही बाहर समीर ले जाता, अर्थात् अपने कक्ष में (श्री पोद्दार महाराज के पिंजर में) पू० गुरुदेव बैठे थे, एवं श्री केडियाजी उन बातों को उनसे प्रार्थना करके ले गये । अब तक तो उन बातों की मोहकता जैसी सौरभ से सनी हुई थी, बढ़ी ही थी । परन्तु हाय, वह गन्धफली का वन था, वहाँ उस सौरभ का सच्चा ग्राहक भ्रमर भला कैसे

आता, फिर भी उन बिखरी पत्रावलियों को लेकर उद्दाम पवन भागा । परन्तु हाय, कुछ कीचड़ के प्रदेश में नष्ट हो गयीं, कुछ कण्टकाकीर्ण झाड़ियों में गिर गयीं, कुछ गिरीं फिर भी कुछ बची थीं, परन्तु हे प्रियतम ! ऐसा ही विधान था कि वे अंकित बातें सर्वथा लुप्त हो जावें, तुमने ऐसी लीला की कि दावा की एक लहर आयी और सब स्वाहा हो गयीं ।

श्रीकेडियाजी ने वह सामग्री पुनः प्राप्त करने का आग्रह भी नहीं किया और वे वृन्दावन वापस चले गये । वृन्दावन आने के कुछ दिनों पश्चात् उन्हें श्रीकृष्ण के स्वप्न में दर्शन हुए । उन्होंने ही केडियाजी के सम्मुख यह रहस्य खोला कि पू० गुरुदेव ने जो कुछ भी लिखा था, वह सर्वथा-सर्वांश में सत्य था। श्रीपोद्दार महाराज ने स्वयं को पूर्णतः संगुप्त रखने के लिये तुमसे वैसा कह दिया था ।

श्रीकेडियाजी को यह जानकर बहुत ही परिताप हुआ, परन्तु उस वस्तु की उत्कृष्टता पर सन्देह के कारण उनके हाथ में आयी श्रेष्ठतम सामग्री अब तो हाथ से निकल ही गयी थी । पश्चात् तो उसे पुनः प्राप्त करने का उन्होंने प्रयास भी किया कि वे पृष्ठ उन्हें पुनः मिल जावें परन्तु उड़ी हुई चिड़िया फिर कैसे हाथ आती ।

जिस प्रकार पू० गुरुदेव अपने कण्ठहार के रूप में श्रीपोद्दार महाराज के माहात्म्य की सत्तर-अस्सी अन्य भगवद् वाणियों को अपने कण्ठ में सदा धारण किये रहते थे, उन्हीं बातों के साथ ये चालीस पृष्ठ भी उन्होंने अपनी धरोहर बनाकर रख लिये । सभी तथ्य पू० गुरुदेव के हृदय हार तो बने हुए थे ही ।

शीत ऋतु की बात है । पू० गुरुदेव एकान्त में बैठे आग ताप रहे थे । अँगीठी में कोयले धधक रहे थे। उन एकान्त क्षणों में पू० गुरुदेव के पास पोद्दारमहाराज आये । पू० गुरुदेव ने उनका स्वागत किया । कुछ साधारण बातें करने के पश्चात् पू० पोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से कहा - "मैं वह सब देखना चाहता हूँ जो कुछ आपने भगवान् श्रीकृष्ण के संकेत से मेरे बारे में लिखा है ।" पू० गुरुदेव ने तुरन्त अपने गले से निकालकर वह लिखित सामग्री पू० पोद्दार महाराज को दे दी । वे उस सामग्री को वहीं पू० गुरुदेव के सम्मुख ही पढ़ गये ।

पढ़ चुकने के पश्चात् उन सभी पृष्ठों को पू० पोद्दार महाराज ने मोड़कर समेटा और पू० गुरुदेव के सम्मुख ही देखते-देखते उसे अँगीठी में

डाल दिया । उस दिव्य सामग्री को आग में डालकर श्रीपोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से कहा - आप पर भगवान् श्रीकृष्ण की बड़ी ही कृपा है जो आपको यह सब बता देते हैं ।

पू० गुरुदेव अपनी आँखों से यह सब देख रहे थे । वे निश्चेष्ट-निष्पन्द बैठे रहे, और मुस्कराते रहे । उन्होंने श्री पोद्दार महाराज के प्रति कोई विरोध भी प्रकट नहीं किया कि आपने यह सब क्या कर दिया, न ही किसी भी प्रकार का क्षोभ ।

उन्हें तो पू० पोद्दार महाराज की रुचि के साँचे में ही अपने को ढालना था । ऐसा नहीं कि इसके पश्चात् उन्हें कोई भगवत्संकेत मिलने स्थगित हो गये हों, भगवान् श्रीकृष्ण तो यावज्जीवन उनसे पद-पद पर वार्ता करते थे, परन्तु ऐसे प्राप्त भगवदीय संकेतों को उन्होंने लिखना बन्द कर दिया । जब श्रीपोद्दार महाराज की रुचि ही नहीं तो क्यों लिखा जावे । अतः कागज पर मसिबिन्दुओं से लिखना स्थगित हो गया ।

(पू० पोद्दार महाराज की महिमा का वर्णन)

परम गोप्य अतिशय अमल सुचि रस यह अनमोल।
कबहुँ न परगट कीजियै, कितहूँ वाचा खोल ।।१।।
अति विचित्र अति ही मधुर प्रेमी कौ संसार ।
सदा सकल दिसि प्रेमघन करत प्रेम विस्तार ।।२।।
सदा परस्पर मधुमिलन सदा सरस रति रंग ।
सदा जगत् विस्मृति, सदा प्रियतम प्रेमी संग ।।३।।
पच्यौ करै नरकाग्नि पै, पल-पल बाढै प्रेम ।
प्रीतम के सुख सौं सुखी, यहै प्रेम को नेम ।।४।।
रस-अगाध सर रहिय नित मगन, उछरियै नाँय।
जानि न पावै पै न कोउ, कोउ न आवै जाय ।।५।।

(दोहों का अर्थ)

यह महापुरुषों का लीला-माहात्म्य रस अतिशय निर्मल, पवित्र और परम अनमोल है । बडे-से-बडा मूल्य देकर भी यह प्राप्त नहीं किया जा सकता,

परन्तु भगवत्कृपा से सहज ही प्राप्त हो जाता है । इसे कभी भी वाणी से खोलकर (अनधिकारी के सम्मुख) प्रकट नहीं करो ।।।१।।

यह प्रेमी महात्माजनों का संसार अति ही मधुर एवं विचित्र है, वे सदा सब दिशाओं में प्रेम तथा प्रेम-वैभव का ही विस्तार करते रहते हैं ।।२।।

प्रेमी की बहुत ही विलक्षण स्थिति है, उसका अपने प्रियतम के साथ सदा परस्पर मधु मिलन, एवं सरलतम रति-रंग होता रहता है । उसे जगत की सदा विस्मृति ही रहती है ।।३।।

प्रेमी का शरीर चाहे घोर नरकाग्नि में पड़ा पचता रहे, परन्तु उसका अपने प्रियतम के साथ प्रेम पल-पल बढ़ता ही रहता है । वह अपने दुखों की ओर तो देखता ही नहीं उसकी दृष्टि तो अपने प्रियतम के सुख में ही अटकी रहती है और उसके सुख से वह निरन्तर सुखी रहता है । यही प्रीति का नियम है । ।।४।।

यह प्रेमरस का सरोवर अगाध है, इसका तल ढूँढने से भी नहीं मिलता। इसमें वह प्रेमी नित्य मग्न, डूबा रहता है; वह कभी उछलकर ऊपर नहीं आता। न तो उसे प्रिय में मग्न रहने के कारण कोई बाहर से कुछ जान पाता है, और न ही कोई उसके पास आ-जा ही पाता है क्योंकि उसका प्रेम और प्रियतम दोनों ही बाहर के सभी लोगों के लिये अगम्य और अगोचर होते हैं ।

धन्य हैं वे जीव जो जगत् में लोक-कल्याणार्थ आते हैं, धन्य है वह काल, जब वे प्रकट होते हैं, धन्य है वह देश जहाँ वे विचरते हैं एवं धन्य है वे लोग जो उनके सम्पर्क में आकर उनकी सेवा में निरत रहते हैं । ऐसे महापुरुष मुक्त होने पर भी मुक्त न होकर जगत में जीवों के साथ उनके कल्याणार्थ विराजते हैं । इनका मंगलमय जीवन जगत् के महान मंगल के लिये ही होता है । अविद्या, अहंकार, ममत्व, आसक्ति आदि से रहित ये महापुरुष यंत्री भगवान के हाथों में यन्त्रवत् कार्य करते रहते हैं । इनके सारे कार्य भगवान् के ही कार्य होते हैं । ये भक्तिमार्ग के आचार्य, परम भक्त शिरोमणि, सर्वभूतहित में रत, जीवों के कल्याणार्थ ही जीते हैं ।

पू० पोद्दारजी के माहात्म्य के सम्बन्ध में जैसे श्री केडियाजी ने पू० गुरुदेव से जिज्ञासा की वैसे ही अन्य लोग जिज्ञासा करते थे । इन जिज्ञासा

करने वालों में श्री गंभीरचन्द जी दुजारी की प्रेरणा प्रमुख होती थी । पू० गुरुदेव के कथनानुसार उन्होंने भी एक माह तक एक लाख नामजप प्रतिदिन किया था । इन निम्नलिखित सभी बातों को बहुत कठोर नियम एवं भजन निष्ठा का पू० गुरुदेव के सम्मुख प्रदर्शन कर लोगों ने उनसे उगलवायी थीं । पू० गुरुदेव पू० पोद्दार महाराज की रुचि का ध्यान रखते हुए यद्यपि इन्हें गोपनीय भी रखना चाहते थे, साथ ही वे सच्चे श्रद्धालुओं एवं जिज्ञासुओं को वास्तविक लाभ से वंचित भी नहीं करना चाहते थे। अत: उनके मुख से ये महत्वपूर्ण बातें प्रगट हुईं । श्रीदुजारीजी, लेखक के पू० मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीमोतीलालजी पारीक, श्रीगोवर्धनजी शर्मा, आदि सभी को उकसा-उकसा कर पू० गुरुदेव के पास भेजते और पू० गुरुदेव से अधिक-से-अधिक महत्वपूर्ण बातें दोहन करने की चेष्टा करवाते । जो दिव्य तथ्य उन दिनों रतनगढ़ प्रवास में सन् १९४१-४२-४३ ई० में प्रकट हुए उन्हें यहाँ सार भाव से दिया जा रहा है । वैष्णव जिज्ञासु जगत् इससे अवश्य लाभान्वित होगा । श्री राधेश्यामजी बंका ने अपनी रस-पल्लव नामक पुस्तक वाटिका के पत्र-पुष्प चतुर्थ भाग में भी ये तथ्य प्रकाशित कर दिये हैं ।

वर्तमान में इस जीवनी में पू० गुरुदेव का चरित्र सन् १९३६ के काल में ही चल रहा है, परन्तु प्रसंगानुसार पूर्व अध्याय में भी सात वर्ष आगे का घटनाचक्र जब उल्लिखित किया जा चुका है तो इस अध्याय में भी सात वर्ष अग्रिम के तथ्य दिये जा रहे हैं ।

श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी की पत्नी इधर बहुत ही रुग्ण रहीं । उनको देखने के लिये पू० पोद्दार महाराज बीकानेर भी पधारे थे । श्रीपोद्दार महाराज के आने के पश्चात् से वे ठीक होने लगीं । श्रीपोद्दार महाराज जानते थे कि मेरे आगमन को श्रीदुजारीजी चमत्कार के रूप में सर्वत्र प्रचारित करेंगे, अत: बहुत काल तक तो वे उनके आमन्त्रण की उपेक्षा ही करते रहे । पीछे आये एवं कुछ ऐसा ही योग भी बना कि उनके आगमन के पश्चात् वे मरणासन्न अवस्था से उत्तरोत्तर स्वस्थ होने लगीं । अत: श्रीगंभीरचन्दजी दुजारी का ही पू० गुरुदेव के सम्मुख प्रमुख प्रश्न था कि क्या श्रीपोद्दार महाराज भगवान् की तरह सर्वशक्तिमान् हैं जो वे निज जनों के दु:ख-दर्द भी दूर कर सकते हैं ? क्योंकि ऐसा अनुमान होता है कि उनकी कृपा से ही मेरी रुग्ण धर्मपत्नी ठीक हो गयी । क्या वे सर्वज्ञ हैं और सबके मन की बात भी जान ले सकते हैं ?

ये बातें मेरे पूर्वाश्रम के पू० मामाजी श्रीचिम्मनलालजी की डायरी में भी लिखी थीं ।

मैंने उन्हें उद्धृत कर लिया था । वे भी यहाँ दी जा रही हैं । पू० गुरुदेव के शब्द थे :-

"श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) से केवल पारमार्थिक सम्बन्ध रखना चाहिये। मेरी स्त्री अच्छी हो गयी, मेरा अमुक कार्य हो गया आदि बातों में यदि मन फँस गया, तो बहुत संभव है भविष्य में श्रद्धा घट जाय । यह तो संयोग था, अथवा भगवद्विधान था कि आपकी स्त्री स्वस्थ हो गयी, यदि अच्छी नहीं होती तो पू० पोद्दार महाराज (भाईजी) क्या महात्मा नहीं होते ।

यों तो किसी प्रकार से भी पू० पोद्दार महाराज (भाईजी) से जुड़ना, उन्हें स्मरण करना परम मंगलकारी है परन्तु समस्त जगत के शहंशाह बादशाह का अनुग्रह प्राप्त कर उस खजाने से मात्र पाँच रुपये का नोट माँगना, और उसे प्राप्त कर खुश होना जैसे बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती, वैसे ही पू० पोद्दार महाराज (श्री भाईजी) के विषय में इन तुच्छ चमत्कारों की कल्पना करके खुश होना है । लौकिक बातों को आपका मन यदि तनिक भी पकड़ता है और महत्व देता है तो मेरी समझ में पू० श्रीपोद्दार महाराज (श्रीभाईजी) से असली लाभ उठाने में बहुत ही विलम्ब हो जायेगा ।

यथार्थत: तो सभी को लौकिक बातों को भूलकर केवल पारमार्थिक लाभ की बात ही सोचनी चाहिए । लौकिक बातें तो इतनी साधारण, नगण्य एवं निम्नस्तर की हैं कि आगे चलकर इनसे श्रद्धा घट भी सकती है । जहाँ तक श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) की सर्वज्ञता का प्रश्न है, वे तो आपकी मान्यतानुसार ही आपके सम्मुख अपना रूप प्रकट कर देंगे । यदि आपकी मान्यता होगी कि मैं जो इन्हें बात जनाऊँगा इतनी ही ये बात जानते हैं, तो ये सर्वथा जनाने पर ही जानने की लीला कर देंगे और यदि सचमुच अन्तर्हृदय से आपका विश्वास है कि पू० पोद्दारमहाराज सर्वज्ञ हैं और मेरे घट-घट की सब बात जानते हैं, तो पूरा-पूरा सम्पूर्णरूप से विश्वास होने पर वे मन की सब बात निश्चय ही जान लेंगे ।

परन्तु तुच्छ सांसारिक संस्कारों को मन से निकाल ही देना चाहिए । सांसारिक चमत्कार सच्चे महात्मा की महिमा को घटाते ही हैं । आपका हृदय सरल है अत: आपने हृदय के भाव निस्संकोच साफ-साफ व्यक्त कर दिये, परन्तु महात्मा की महिमा और भगवान् की महिमा समान ही होती है । यदि

आन्तरिक सच्चे-हृदय से आपका पूरा-पूरा विश्वास हो जाय कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी) महात्मा हैं तो उसी क्षण आप ऐसे विलक्षण पुरुष हो जायें कि लोग आपका दर्शन कर, परिचय प्राप्त कर चकित हो जावें । अभी तो यहाँ जितने भी लोग हैं, उनमें, बातें सुनने से और उन सुनी हुई बातों के आधार पर, मात्र ऊपरी मन में भाव की एक लहर आती है कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज (पू० भाईजी) महात्मा हैं । अभी इस भाव की ठोस नींव जैसी पड़नी चाहिए, सर्वथा नहीं पड़ी है । यह ऊपरी स्तर का एक लहर-जैसा अस्थिर भाव भी अनन्त जन्मों के पुण्य, महान् भगवत्कृपाजनित सौभाग्य से ही हुआ है । भाव परम पवित्र एवं सुन्दर है, परन्तु इसकी नींव तो दृढ़ हो । दृढ़ नींव के बिना तो आस्था का महल खड़ा ही नहीं हो सकता । अतः बहुत ही ठोस अड़िग, मजबूत नींव खड़ी करनी चाहिए ।

श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) को कोई भी महात्मा मानने लग जाय, फिर उसे कुछ भी करने-कराने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। क्योंकि महात्मा मिलें तथा साक्षात् भगवान् मिलें इसमें कहीं कुछ तनिक-सा भी अन्तर नहीं है । ऐसी सत्य यथार्थ मान्यता, जब तक अन्तःकरण मलिन है तब तक हो भी नहीं सकती । हम लोग महात्मा की बात सुनकर भी यह सर्वथा नहीं जान पाते कि यथार्थतः महात्मा की महिमा कितनी है और महात्मा है क्या ? जब अन्तःकरण पवित्र होगा तभी समझेंगे कि ये महात्मा हैं और इनकी कैसी महिमा है। इसलिये यदि सचमुच ही पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) में श्रद्धा बढ़ाना चाहते हैं और उनसे पारमार्थिक लाभ लेना चाहते हैं तो कम-से-कम प्रतिदिन एक लाख नाम-जप कीजिए । इसके बिना श्रीपोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी) जैसे सन्त की यथार्थ महिमा का ज्ञान होना सर्वांश में असंभव-सा है; श्रीभाईजी अथवा भगवान् बिना भजन किये ही किसी को इनकी महिमा का ज्ञान करा दें, वह बात दूसरी है।

एक बात आप सोचिये । आपके सामने श्रीभाईजी का जो पांचभौतिक ढ़ाँचा दीखता है, वहाँ क्या है ? जैसे हम लोग पैदा हुए थे, जीव जिस प्रकार जन्म लेता है, उसी प्रकार श्रीभाईजी भी पैदा हुए थे । दूसरे शब्दों में, एक जीवात्मा आज से लगभग पचास वर्ष पहले पैदा हुआ था, जिसका नाम हनुमानप्रसादपोद्दार रखा गया । परन्तु भगवान् की कृपा से साधना के द्वारा वह इतनी ऊँची स्थिति पर पहुँच गया, जिसकी कल्पना भी हम लोगों को नहीं है । आज से पाँच-सात वर्ष पहले मानो भगवान् आयें और किसी भी जीव को

सर्वोच्च पारमार्थिक स्थिति दान करके उसे अपने हृदय में छुपा लें और स्वयं उसके स्थान पर काम करने लगें -- ठीक-ठीक यही हालत यहाँ हुई है । श्रीपोद्दारमहाराज के कलेवर के भीतर जो अहंता थी वह तो भगवान् की सच्चिदानन्दमयी लीला में सम्मिलित हो गयी, अब उनके स्थान पर इस कलेवर के नियन्ता स्वयं भगवान् हो रहे हैं । वे इस कलेवर का नियन्त्रण तब तक करेंगे जब तक यह पाँचभौतिक कलेवर विद्यमान है । अब (भाईजी) पू० श्रीपोद्दारमहाराज तो हैं ही नहीं, जो हैं, सो सर्वज्ञ हैं, सर्वत्र हैं, सर्वसुहृद हैं परन्तु वे अपने को सुगुप्त रखने में अति ही कुशल हैं । अतः वे श्रीपोद्दारमहाराज के स्वभाव, चेष्टा और क्रियाओं की सांगोपांग नकल करते हुए हमारे सम्मुख वैसा ही व्यवहार करेंगे जैसे वे पूर्वतः करते थे । वे आपसे उसी प्रकार बोलेंगे 'क्यों भाई ! राजी तो है ?' आपको तो पता ही नहीं कि यह कलेवर-मात्र ही पोद्दारजी का है, शेष तो सब कुछ और ही है । और वह इतना नाट्यकुशल है कि जगत् का स्रष्टा ब्रह्मा भी मोहित हो जाय ।

हम तो यही जानेंगे एवं मानेंगे भी कि श्रीभाईजी ने हमसे उदारता का व्यवहार किया, आत्मीयता, सौहार्द की नदी बहा दी, या हमारा तिरस्कार कर दिया, उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था । परन्तु हम यह कदापि विचार ही नहीं कर सकते कि साक्षात् श्रीकृष्णभगवान इस कलेवर के भीतर से मेरी बात का प्रत्युत्तर दे रहे हैं, मेरी बातें मनोयोगपूर्वक सुन रहे हैं, मुझे राय दे रहे हैं, मुझे आर्थिक सहायता कर रहे हैं । आप तो यही समझेंगे कि यह सब मुझे भाईजी ने कहा है, बताया है । सुनी-सुनायी बातों के आधार पर हम अधिक-से-अधिक इतनी ही श्रद्धा कर सकते हैं कि पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ऊँचे महात्मा, महापुरुष, महामानव, दयालु, सज्जन, भगवत्प्राप्त पुरुष हैं परन्तु हमारी यह आस्था हो ही नहीं सकती कि यहाँ इस कलेवर में साक्षात् भगवान् हमसे खेल कर रहे हैं ।

इसी तरह पूज्या माताजी के लिये वे बेटा ही बने रहेंगे, सावित्री की माँ के लिये वे पति बने रहेंगे, सावित्री के लिये वे पिताजी (बाबूजी) बने रहेंगे । किसी को उनके व्यवहार से रत्ती भर भी ऐसी गन्ध नहीं लग सकती कि भीतर का जीवात्मा है ही नहीं, कोई और ही सब यथायोग्य निर्वाह कर रहा है।

अब आप सहज में ही सोच सकते हैं कि इनके लिये आपके अन्तर की, घट-घट की जानना मात्र हँसी-खेल है, परन्तु यह सर्वज्ञता का प्रकाश उसी

के सम्मुख होगा जिसका इन पर संशयहीन विश्वास है कि यहाँ साक्षात् भगवान् ही इस कलेवर को यंत्र बनाकर क्रीड़ा कर रहे हैं । यह सत्य है कि शास्त्रों में भगवान् के विषय में हमने जो भी पढ़ा-सुना है, अथवा भविष्य में पढ़ें-सुनें अथवा जानेंगे वे सभी बातें, वे सभी माहात्म्य इस ढाँचे के भीतर प्रकट हैं ।

परन्तु हमारी ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति तो तभी होगी जब साधना करते-करते, भगवान् कृपा करके अपना पर्दा उठाकर अनुभव करावेंगे । हाँ, हम भगवान् से प्रार्थना करें कि श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की आत्मा इस समय हे प्रभो ! आपके सच्चिदानंदमय लीलालोक में कहाँ किस रूप में है ? आप हमें उसका दर्शन करावें अथवा उसका सान्निध्य दान करवावें, तो वे चाहें तभी हम पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की सत्य स्थिति समझ सकेंगे । पहले हमें भगवत्प्राप्ति होगी और इसके पश्चात् उनकी कृपा होने से ही श्रीपोद्दार महाराज की सच्ची लीलागत भावदेह अथवा उनकी पारमार्थिक अवस्था का हमें पता चलेगा । इसके सिवाय तो अन्य कोई उपाय संभव नहीं है ।

अभी तो यही तथ्य है कि साक्षात् भगवान् इस कलेवर के भीतर से कन्यादान कर रहे हैं, कल्याण का सम्पादन कर रहे हैं । परन्तु सब अत्यन्त गोपनीयरूप से कलेवर के ठीक स्वभाव, वृत्ति, बोली-चाली का सांगोपांग यथायोग्य नाट्य करते हुए । हम ऐसे अज्ञानी हैं कि कोई उनसे अधिक व्यवहारकुशल होने का अभिमान करता हुआ उन्हें व्यवहार की सलाह देता है, कोई उनके कार्यों की आलोचना करता हुआ उन्हें बुरा भला भी कहता है, परन्तु वे मायावी सब की सुनते हैं और मन-ही-मन अपने लीलाकौशल पर हँसते हैं ।

जिन भगवान् को खोजने के लिये अनन्तकाल तक तपस्या करनी पड़ती, वे स्वयं इतने सुलभ हैं, परन्तु हमारा विश्वास नहीं, यही दुर्भाग्य है । भगवान् ने ऐसा माया का पर्दा डाला है कि कोई बिरला यह बात सुनेगा, और अति बिरला विश्वास करके निहाल होगा ।

यों तो जब साक्षात् भगवान आये हैं तो इसका अनन्त लाभ सबको मिलेगा । जिस पर भी इनकी एक बार भी दृष्टि ही पड़ेगी , वह भी बिना जाने पवित्र होकर कृतार्थ होगा ही, परन्तु यह सब तो अन्त में होगा। अन्त में हमारा कल्याण तो निश्चय ही हो जायेगा, क्योंकि किसी भी भाव से ही

सही, सम्बन्ध हुआ है साक्षात् भगवान् से । हमारा ही नहीं, जिस-जिस प्राणी को इनका दर्शन होगा, सभी तर जावेंगे । यह हो सकता है, जन्म और धारण करने पड़ें, जन्म किसी योनिका भी हो सकता है । परन्तु वे प्राणी अनन्त पुण्यशाली हैं जिन्हें एक बार भी इनका दर्शन प्राप्त हो गया है । वे इनके माहात्म्य के जानकार नहीं है, इतनी ही कमी है ।

इससे भी बहुत ऊँची बातें हैं परन्तु वर्तमान में मेरी बताने की इच्छा नहीं है । ये बातें भी अनेक कारणों से मैंने बहुत ढ़क कर लिखी हैं। पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) की बात सुनने वाला एक तो मुझे वैसे ही प्रिय लगता है, दूसरे आपने एक लाख नामजप का नियम लिया है । आप नामजप का यह नियम निभाते जाइये, फिर भगवान् की प्रेरणा से स्वयं कोई आपको यथावसर, यथायोग्य बातें बताता रहेगा।

महिमा की और गंभीरतम बातें

(ये गंभीरतम रहस्य की बातें भी पू० गुरुदेव ने सन् १९४३ ई० के आसपास ही अपने अन्तरंग सत्संग में कतिपय सज्जनों के सम्मुख प्रकट की थीं । अभी पू० गुरुदेव का जीवनक्रम तो सन् १९३६ ई० के अक्टूबर-नवम्बर माह के आसपास ही है । प्रसंगवश ही अग्रिम सात वर्ष की बातें इसलिये यहाँ दी जा रही हैं कि ये सब बातें पू० गुरुदेव को एक ही स्रोत भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा ही भिन्न-भिन्न कालक्रम में कही गयी हैं। ये एक साथ संचयित वैष्णवों के सम्मुख आ जायें - यही उद्देश्य है)

जो साधना में दृढ़ निश्चय करके लगता है, उसपर भगवत्कृपा प्रकाशित होती ही है और उसे प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओं में प्रत्यक्ष भगवान् का हाथ दिखने लगता है। ऐसे व्यक्ति का फिर महापुरुषों में आकर्षण हो जाता है । इसी प्रकार, किसी भी हेतु से सच्चे महापुरुष में आकर्षण होने मात्र से भी सर्वत्र भगवान् की सत्ता ही क्रियाशील हो रही है, यह अनुभव उनकी कृपा से होने लग जाता है । एक बात निर्विवाद है कि जो भी अधिक-से-अधिक भगवन्नाम नहीं लेगा, उसकी उन्नति बहुत ही मन्द गति से ही होगी । इसमें कोई भी बहाना, युक्ति अथवा कन्शेसन, अपवाद नहीं चल सकता । प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में तीन दोष, मल, विक्षेप एवं आवरण रहते ही हैं। जब

तक मल नहीं धुलेगा, विक्षेप नहीं मिटेगा, आवरण भंग नहीं होगा महात्माओं की बात मनमें नहीं ही बैठेगी, न ही उतरेगी । जब मन में मल भरा है तो मन में जगह ही नहीं है कि महात्माओं की श्रद्धा की बात वहाँ रखी जा सके, घुसाई जा सके । इसीलिये बहुत ऊँची बातें सुनकर भी मन महापुरुषों में दोष देखने लगे जाता है ।

पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की बातें आपने सुनी हैं, मैने कही हैं, पर केवल एक बार की उस चर्चा का जो फल होना चाहिए था कि हम लोगों को श्रीपोद्दारमहाराज के रूप में सदा-सदा के लिये साक्षात् भगवान् ही क्रियाशील दिखने लग जाने चाहिए थे - वह हम लोगों में से किसी को भी नहीं हुआ । इसका कारण यही है कि मन में इतनी विषयासक्ति भरी है, इतना अहंकार और लौकिक सांसारिक स्वार्थ है कि उसमें इन बातों को स्थायी संचित रखने का स्थान ही नहीं शेष है ।

किसी को भी विश्वास कराना तो मेरे वश की बात नहीं है परन्तु जितनी बातें कही गयी हैं, वे यदि किसी के भी चित्त में महत्व पातीं तो एक ही आत्मसमर्पण की शुद्ध लालसा ही सबके मन में बच रहती । और आत्मसमर्पण की इस शुद्ध लालसा के चतुर्थांश का भी यदि उदय हो जाता तो इस जगत् के अणु-अणु में अपने-अपने इष्टदेव के सबको दर्शन होने लग जाते।

हम श्रीपोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी)का संग करते हैं, परन्तु संग का उद्देश्य लौकिक स्वार्थ ही होता है, संग का स्वरूप और उद्देश्य भगवत्प्राप्त महापुरुष के विशुद्ध संग का नहीं होता । यदि इस विशुद्ध उद्देश्य को लेकर कि पू० पोद्दारमहाराज सच्चे सन्त हैं और मुझे सच्चे भगवत्प्राप्त-सन्त का संग करना है, कोई अपनी ओर से भरपूर चेष्टा भी करे तो फिर निश्चित मानिये, उसे पू० पोद्दारमहाराज (श्रीभाईजी) वह अनुपम दान दे जायेंगे कि जिसकी कल्पना भी कोई कर नहीं सकता । यह सर्वोत्तम बात है जो मैं (भाईजी) श्रीपोद्दारमहाराज के सम्बन्ध में कह सकता हूँ । सच मानिये, यदि ऐसा कोई अपने को बना सके तो फिर उसे वे अवश्य श्रीकृष्णलीला में प्रवेश करायेंगे। सच मानिये, भजन नहीं होने के कारण माया-जगत् के नीचे के धरातल का ही रूप हमारे सम्मुख आ रहा है, भजन करके देखिये फिर सन्तकृपा आपको लपेट कर ऐसे दिव्य स्वरूप की झाँकी करायेगी कि जिसकी कल्पना भी अभी

आपके लिये असंभव है । इनकी कृपा के एक कण का करोड़वाँ अंश भी आप किसी प्रकार ग्रहण करलें, तो भी निहाल हो जावें ।

मुझे तो इनके पास इनकी कृपा ही रखे हुए है । यहाँ जितने व्यक्ति हैं उनमें श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी की ओर मेरी दृष्टि अधिक आकर्षित होती है। मैं सोचता हूँ, यदि ये चाहे तो ऐसा बन सकते हैं ।

जिस दिन श्री भाईजी को जयसिडीह में भगवत्प्राप्ति हुई थी, उस प्राप्ति में और आज की उनकी स्थिति में धरती-आसमान का अन्तर है । वह दर्शन तो त्रिदेवों में एक देव श्रीविष्णु भगवान् का दर्शन था । परन्तु पश्चात् इन्हें श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। फिर और भी उच्च अवस्था हुई और युगल-सरकार के दर्शन हुए, फिर तो और भी अति उच्च अवस्था कि श्री राधारानी में सर्वथा इनका अहंकार सदा-सदा के लिये विलीन हो गया । यद्यपि यह अवस्था वाणी, मन, बुद्धि से परे की अति अनिर्वचनीय है, परन्तु जहाँ तक विवेचन किया जा सकता है शाखा-चन्द्र-न्याय से उतनी ही बात कही जा रही हैं। सचमुच ही श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की कृपा से जिस दिन भी कोई गोपीभाव की साधना करता हुआ गोपी बन जायेगा, उसी दिन वह ठीक-ठीक यथार्थतः समझ सकेगा कि राधारानी से एकात्म होना, उनमें लीन हो जाना, क्या बात होती है। उस समय वह भी गूँगे-का-गुड़-स्वाद की तरह अन्य को नहीं ही समझा सकेगा ।

मेरी यह धारणा है कि श्री राधारानी के साथ अभेदावस्था किसी-किसी विरले महापुरुष की ही होती है । जिसका उदाहरण एकमात्र अब तक केवल चैतन्य महाप्रभु ही हैं । इनके अतिरिक्त आधुनिक सन्तों में तो कोई नहीं है। श्रीराधारानी में अभेदावस्था की प्राप्ति तो अति दूर की बात है, इन श्रीराधारानी के इस रूप का दर्शन ही ब्रह्माजी एवं शंकरजी तक को दुर्लभ है। पद्मपुराण में यह कथा आती है कि श्रीनारदजी को इनके दर्शन होने पर श्रीगोपीजनों ने कहा है कि इस रूप का दर्शन जो तुम्हें हुआ है, त्रिदेवों को भी दुर्लभ है । ऐसी श्रीराधारानी का दर्शन पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) को हुआ और वे उसमें लीन हो गये । पू० पोद्दारमहाराज दासी का, मंजरी का, नर्म सखियों का, सबका उल्लंघन करते हुए सीधे श्रीराधारानी में सायुज्य लाभ करके कृतार्थ, कृतकृत्य हो गये । जो जीव हनुमानप्रसाद नाम एवं कलेवर का आश्रय करके पचास वर्ष पूर्व पैदा हुआ था, वह "मैं" हूँ इस अहंकार को "मैं राधा हूँ" इस भाव में सर्वथा-सर्वांश में लीन करके उन्हीं के भाव में तन्मय

हो गया । इसके पश्चात् जो अन्तःकरण इस पाञ्चभौतिक कलेवर के आश्रित है, वह तो अब उस सच्चिदानन्दमय राज्य की सर्वसमर्था शक्ति के द्वारा प्रकाशित हो रहा है ।

स्वयं भगवान् के अवतार में और यहाँ की स्थिति में अन्तर इतना ही है कि अवतार-काल में जो अवतरण होता है, वह पाञ्चभौतिक ढ़ाँचे का आधार लेकर नहीं होता । वह होता है, सर्वथा आत्म-मायाकृत, जहाँ पांच-भौतिकता का सम्बन्ध ही नहीं है । पांच-भौतिक पर्दा तो जड़ अविद्या का पर्दा है, यह योगमाया का पर्दा नहीं है । अतः पू० (भाईजी) श्रीपोद्दारमहाराज में साक्षात् परात्पर-परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा के साथ आवेशावतार के रूप में अवतरित हुए हैं। ये आज से पाँच-सात वर्ष पूर्व (अर्थात् भगवान् श्रीनारदजी के दर्शन के पश्चात्) अवतरित हुए हैं और पांच-भौतिक ढ़ाँचें के प्रारब्ध रहने तक यह अवतार रहेगा । श्रीराधाकृष्ण के संबंध में जो-जो बातें शास्त्रों में कही गयी हैं, और भविष्य में भी कही जा सकती हैं, वे सभी यहाँ प्रकट हैं । यदि कोई सच्चा श्रद्धालु होने की चेष्टा अथवा चाह करे तो उसे थोड़ा-बहुत परिचय तो निश्चय ही मिल सकता है । क्योंकि छिपाना तो उसी के लिये है जो अश्रद्धालु है । श्रद्धालु के लिये छिपाना तो है नहीं । उसकी श्रद्धा संत-रहस्य को प्रकट हो जाने में बाध्य कर देगी । परन्तु यदि कोई श्रीपोद्दारमहाराज से ही पूछने चलेगा कि "आप ऐसे हैं क्या ?" तो मेरी समझ में पूछने पर यही उत्तर मिलेगा कि "यह तो भाव की बात है, मैं ऐसा सर्वथा नहीं हूँ।"

यह मैं स्वयं अनुभव करता हूँ मानो इनके अन्तराल से राधारानी सर्वथा एक हलका-सा आवरण डाले लीला कर रही हैं; सर्वथा एक विलक्षण-स्त्री अनुभूति होती है, अभूतपूर्व । इस तथ्य पर विश्वास कराना मेरे वश की बात नहीं है । यह तो भगवान् राधाकृष्ण के ही वश की बात है ।

इस सम्बन्ध में पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) स्वयं ऐसी-ऐसी बातें दो-तीन बार कुछ प्रच्छन्न शब्दों में मुझे कह गये, जिससे मेरा विश्वास पुष्ट हो गया कि जो स्थिति मैंने बतलायी वह स्थिति उन्हें प्राप्त है । दूसरे शब्दों में, मुझे तो स्वयं ही राधारानी ने दया करके यह बतला दिया कि जिसके चरणों की कृपा की तुम खोज कर रहे हो, वह मैं इसी ढ़ाँचें में आई हुई हूँ । हनुमानप्रसादपोद्दार रूप जीवगत अहंता तो मुझमें विलीन हो गयी है और उसके स्थान पर अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के साथ मैं ही हूँ । तुम राधारानी

को प्राप्त करना चाहते हो, तो तुम तीन वर्षों से उसी के पास हो, केवल पांच-भौतिक देह का जो आवरण है, वह समय पर उठ जायेगा । जिस प्रकार अवतार-काल में श्रीकृष्ण का विग्रह एक स्थान पर दीखकर भी सर्वव्यापक था और यह दामोदर-बन्धन-लीला अथवा मुख में विश्वरूप दर्शन कराके भगवान् ने प्रकाशित भी कर दिया था, उसी प्रकार किसी भी प्रेमी को जब श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) में सत्यांश में उसका दर्शन होगा उस समय एकदैशिकता का प्रश्न ही नहीं रहेगा । यहाँ का देश सर्वथा अनिर्वचनीय हो जायगा । श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ने मुझे स्पष्ट कहा था कि दर्शन होते समय यह देश, यह काल सर्वथा नहीं रहता, सब कुछ सर्वथा-सर्वांश में सच्चिदानन्दमय हो जाता है । यह पांच-भौतिकता तो तभी तक है जब तक किसी को लीला के अथवा साक्षात् भगवान् के दर्शन नहीं हो रहे हैं । वास्तव में भगवान् और उनकी लीला ही सर्वव्यापक सच्चिन्मय तत्व है ।

श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की दृष्टि इस जगत्, इस जगत् के किसी भी जीव अथवा (प्राणी) पर पड़कर कैसी कृपावर्षा करती है इसका उत्तर यही है कि स्वयं भगवान् राधाकृष्ण जिस कृपामयी दृष्टि से इस जगत् को, जगत् के प्राणियों को निहारते हैं, ठीक उसी दृष्टि से श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) के नेत्र-गोलक भी देखते हैं । इसमें तनिक भी, कहीं कुछ भी न्यूनाधिकता सर्वथा-सर्वांश में नहीं है । अब यह दृष्टि कैसी अभूतपूर्व कृपावर्षी है, यह बुद्धि से परे की बात है ।

जिज्ञासा करने में संकोच सर्वथा नहीं करना चाहिए परन्तु बात आपकी खोपड़ी में स्थिर टिकी रह जाय यह मेरे वश में नहीं है । शास्त्रों में पढ़िये, भगवान् ने जिसको भी एक बार भी देखा वे सब तर गये । वृन्दावन के जड़ देश की प्रतीति भी लीला के लिये ही होती है । वह स्वयं सच्चिदानन्दमय तत्व है । स्वयं भगवान् के सच्चिदानन्दमय विग्रह से ही इसका निर्माण हुआ है । हुआ है - यह कहना भी बनता नहीं है, क्योंकि वह अनादि काल से है, और अनन्त काल तक रहेगा ।

यहाँ इसी कमरे में, आपमें, मुझमें, सभी में भगवत्तत्व है, वृन्दावन भी है परन्तु वह अप्रकट है, परन्तु जिस स्थान पर पू० श्रीपोद्दारमहाराज का कलेवर है, उस स्थान पर वह कलेवर का पर्दा देकर पूर्णतया प्रकट है । इसका मेरे पास प्रमाण नहीं है, परन्तु साध्य-साधन यही है - मैं इसी का विश्वास कराना चाहता हूँ ।

शास्त्रों के प्रमाण से एवं युक्तियों से इस बात का ज्ञान होता है कि श्रीवृन्दावनधाम, अयोध्याधाम, काशी, मथुरा, जगन्नाथ आदि धाम जितने दिन अवतार रहता है उतने दिनों तक ही नहीं, वह स्थान सदा के लिये चिन्मय हो जाता है । ब्रजवासी महात्माओं की हजारों वाणियाँ, हजारों पद ही नहीं, ऋषिप्रणीत ग्रन्थ भी प्रमाणित करते हैं कि भगवदवतार के तिरोभाव होने पर भी उस सच्चिन्मयी भूरेखा की चिदानन्दमयता अखण्ड ज्यों-की-त्यों बनी रहती है । अतः जब वह जमीन, जो जड़ है, अबुद्ध है, वह भी भगवदवतरण से चिन्मय हो गयी तो फिर यह भाईजी 'श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाराज' नाम वाला ढ़ाँचा भी तो चिन्मय होना ही चाहिए । क्योंकि पृथ्वी तत्व इस ढ़ाँचें में भी वही है जो वृन्दावनादि स्थानों में है । इतना शास्त्रीय प्रमाण तो मैं देख चुका हूँ कि भगवत्प्राप्त वैष्णवों का पांच-भौतिक शरीर साधारण शरीरों की तरह नहीं होता । जैसे यह वृन्दावन श्रीहरिदास स्वामी एवं प्रकाशानन्दजी को तो चिन्मय दिखता था, परन्तु शेष सर्वसाधारण तो उसे मात्र भूमिखण्ड ही देखते थे, इसी प्रकार श्रीभाईजी का पांच-भौतिक कलेवर हो तो गया है- परम दिव्य, परन्तु अनधिकारी को जड़ ही दिखेगा । इसे प्रमाणित करने की तो मेरी सामर्थ्य है नहीं, अब कोई विश्वास कर सके तो उत्तम ।

वास्तव में भगवत्प्रेम का मार्ग ही बड़ा विचित्र है । इसकी ऊँची अवस्था में पहुँचे महापुरुष की अवस्था इतनी विलक्षण, इतनी विचित्र हो जाती है कि उस अवस्था को जिन पर भगवान् श्रीकृष्ण की विशेष दया होती है वे बिरले प्राणी ही समझ पाते हैं । उस विशेष महापुरुष की स्थिति एवं अवस्था को लिखकर, पढ़कर, अथवा सुनकर कोई समझ ही नहीं सकता । वह एक अजीब पागलकी-सी अवस्था होती है । उस महापुरुष के द्वारा ऐश्वर्य मार्ग की भक्ति, भगवत्सेवा का आचरण हो ही नहीं सकता । वह महामधुरतम राज्य में जा पहुँचता है, जो अतुलनीय है । वैष्णव शास्त्रों को पढ़कर तथा अनुभवजन्य अनेक कारणों से मेरा यह विश्वास है कि भाईजी उस अतुलनीय अवस्था में पहुँचे हुए हैं ।

उनका जो पहले स्वभाव था, वह सर्वथा बदल गया है, उस पर रंग चढ़ते-चढ़ते इस जगत् की स्मृति ही उनके अन्तःकरण में संभवतया नहीं ही होती होगी । आप श्री मद्भागवत देखलें । प्रेमी की बात तो दूर रही, यथार्थ ब्रह्मज्ञानी की भी ऐसी दशा हो जाती है । जैसे मदिरा पीकर मनुष्य अपने वस्त्रों की सुधि भुला देता है वैसे ही यथार्थ ब्रह्मज्ञानी को यह भी पता नहीं

चलता कि मेरा शरीर बैठा है, चल रहा है, खा रहा है, क्या कर रहा है । श्री मद्भागवत में इसका द्योतक स्पष्ट श्लोक है । फिर श्रीपोद्दारजी (भाईजी) को जो प्रेम की उच्च अवस्था प्राप्त है वह तो ब्रह्म प्राप्ति के पश्चात् की अवस्था है । ऐसी अवस्था में जो इनका शरीर ठीक-ठीक व्यवहार का काम करता है, उसे देखकर यही लगता है कि श्रीकृष्ण की विशेष इच्छा से जगत् का कोई अशेष मंगल कार्य करवाना ही उद्देश्य है जिससे उनके अन्तःकरण को यंत्र बनाकर वे स्वयं उसे प्रयुक्त कर रहे हैं ।

आजतक ऐसी पारमार्थिक स्थिति का वर्णन मैंने किसी भी शास्त्र में नहीं पढ़ा है । श्री श्रीचैतन्य महाप्रभु के सिवा किसी भी भक्त के जीवन में इस स्थिति का संकेत भी प्राप्त नहीं होता । मैं यह भी नहीं कह सकता कि अनादि जगत् के इतिहास में श्रीभाईजी (पोद्दारमहाराज)पहले उदाहरण हैं । ऋषियों ने जान-बूझकर, मालूम पड़ता है, शास्त्रों में इस स्थिति का उल्लेख नहीं किया, और कहीं हुआ भी होगा तो मेरी दृष्टि में नहीं आ पाया ।

पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) की कृपा की रस्सी में हम लोग एक बार के लिये बँध चुके हैं, अब शक्ति नहीं कि चाहने पर भी चले जायें । जायेंगे तो भी कुछ दिन घूम-फिरकर वापस आना पड़ेगा।

वे किसी से खेल करें तो दूसरी बात, वह कुछ दिन के लिये भले ही चला जाय, नहीं तो असंभव है, कोई जा नहीं सकता ।

बिना किसी संशय के इस बात को मान लीजिये श्रीभाईजी की कृपा प्रकाशित होकर एक क्षण में समस्त कलुषता मिटाकर सभी को अपने सच्चे संग का अधिकारी बना सकती है । पाँच-सात व्यक्ति तो मेरी दृष्टि में है जिन पर अपने आप श्रीपोद्दारमहाराज की कृपा प्रकाशित होगी । श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) यदि अपनी लीला पहले ही संवरण करलें तो भी उनके प्रारब्ध शेष रहने तक वे उनकी सँभाल करेंगे । यदि थोड़ा भी कोई उनमें से उन्मुख हुआ तो वे प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसे सँभालेंगे । सारांश यही है कि कुछ व्यक्ति जो इस प्रकार पू० पोद्दारमहाराज के प्रति भाव रखने वाले हैं, वे चाहे कितने ही मलिन क्यों न हों, एक क्षण में पू० पोद्दारमहाराज (भाईजी) उन्हें अपनी अहेतु की कृपा से साथ ले जाने के लिये अधिकारी बना लेंगे । इनके लिये कुछ भी असंभव नहीं है । पद्मपुराण में यह कथा आती है 'एक भक्त के लिये एक गोपी से श्रीकृष्ण ने कहा - "प्रिय सखी ! इसे अपने समान बनालो । उसी क्षण उस गोपी ने उसे 'गोपी' बनाकर श्रीकृष्ण के चरणों में

बैठा दिया और एक वीणा देकर कहा - मेरे प्राणनाथ को भजन सुनाया कर। ठीक इसी प्रकार अथवा इससे भी विलक्षण ढंग से श्रीपोद्दारमहाराज उन पाँच-सात व्यक्तियों को अपने समान बनाकर श्रीकृष्ण की सेवा में अपने साथ रख लेंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है ।

इनमें विषमता है नहीं जो एक को करें और दूसरे को छोड़ दें परन्तु शास्त्रों में जय-विजय पार्षदों की बात है । वैसी कोई बात हो तो आश्चर्य नहीं । परन्तु नहीं तो जहाँ तक मन-वाणी की सामर्थ्य है, मन की पहुँच है सर्वोत्तम पारमार्थिक स्थिति- श्रीकृष्ण की लीला में सेवाधिकार प्राप्त कर लेंगे।

यद्यपि कृपा के प्रवाह को विषयासक्ति रोकती है, परन्तु वस्तु-गुण इतना अधिक है कि विजय उसकी ही होगी । वे सब उस कृपा के प्रवाह में बह जायेंगे ।

श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) भक्त वाञ्छाकल्पतरु हैं । उनका मन से बार-बार चिन्तन करना, श्रद्धालुओं के मध्य उसकी चर्चा करना, अपना सम्पूर्ण विवेक एवं धैर्य बटोरकर अधिक-से-अधिक इनके पास रहना, यही कायिक, वाचिक एवं मानसिक संग है । यह करते-करते श्रीपोद्दारमहाराज के प्रति ऐसा आकर्षण बढ़ेगा, लगेगा मानो जादू होता जा रहा है । हठात् विलक्षण ढ़ंग से ऐसी श्रीपोद्दारमहाराज प्रेममयी दृष्टि डालेंगे कि आप सभी प्रेम में विभोर हो जाओगे ।

श्रीभाईजी की चरणरज ब्रजरज से तनिक भी न्यून नहीं है । पू० भाईजी के पास रहना ब्रजवास ही है अपितु उससे भी कुछ अधिक महत्वपूर्ण है । ब्रज का महत्व जिन कारणों से है, उससे प्रबल कारण इस कलेवर में अभिव्यक्त हैं।

पू० श्रीपोद्दारमहाराज के चरणों में लेशमात्र भी प्रेम हो जाय, प्रेम न भी हो तो कम-से-कम इतना अवश्य ही बना रहे कि हम कहीं भी रहें, सदा भाईजी के चरणों में लौटते रहने की लालसा से चित्त तरसता रहे ।

श्री गोयन्दकाजी का गोरखपुर आगमन

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका का गोरखपुर आगमन दो-तीन माह की लम्बी अवधि के पश्चात् ही संभव हो सका । श्री सेठजी से पू० गुरुदेव का मिलन हुआ । श्रीसेठजी को पू० गुरुदेव ने अपने मानस-परिवर्तन का कुछ भी

आभास नहीं होने दिया । श्रीसेठजी के जहाँ भी सत्संग होते- चाहे गीताप्रेस अथवा श्रीानश्यामदास जालान के घर पर, पू० गुरुदेव उसमें अवश्य सम्मिलित होते ।

हाँ, उनकी आन्तरिक अनुभूति में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया था । पू० गुरुदेव बाँकुड़ा में जब श्रीसेठजी से मिले थे, उन्हें श्रीसेठजी के स्थान पर निर्गुण-निराकार आनन्द तत्व ही घनीभूत आकृति-विग्रह बना दृष्टिगोचर हुआ था। बाँकुड़ा में एक बार श्रीसेठजी कुछ मित्र-व्यवसाइयों के साथ घिरे मोटर में सवार होकर जा रहे थे । पू० गुरुदेव उनके साथ थे । पू० गुरुदेव ने उस समय उनकी आन्तरिक अनुभूति के संबंध में उनसे प्रश्न किया । श्री सेठजी ने मोटर में यात्रा करते-करते बताया कि सत्य मात्र आनन्द ही आनन्द है, यह मोटर, ये सेठ साहूकार, ये बाँकुड़ा शहर, आप, मैं, गाड़ी का ड्राइवर आनन्दाकाश में तिरमिरों की तरह असत्, प्रातीतिक ही अनुभव हो रहे हैं । ये आकृतियाँ स्वप्न से भी अधिक असत् हैं । पू० गुरुदेव की भी उन दिनों यही अनुभूति होती थी, अत: अनुभव-साम्य के कारण श्रीसेठजी का सहवास और सत्संग उन्हें बहुत ही रुचिकर लगता था ।

परन्तु इस बार श्रीसेठजी से प्रथम मिलन में ही जब उन्होंने श्रीसेठजी के स्थान पर अपने ही आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण की चतुर्भुज मूर्ति देखी तो वे आश्चर्यचकित हो गये । यह वही मूर्ति थी जो उनके दर्शन-पथ में सदा-सर्वदा बनी रहती थी । उसमें परिवर्तन इतना ही था कि द्विभुज के स्थान पर यह चतुर्भुज थी, इसके पीछे कदम्ब-वृक्ष लुप्त हो गया था और चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म ऊर्ध्व आयुध थे । वंशी वहाँ नहीं थी । इस मूर्ति के नेत्रों में चंचलता के स्थान पर अतिशय गंभीर स्थिरता थी । अपने अन्तर्भूत घन-आनन्द से इस मूर्ति के नेत्र आधे मुँदे थे । इतना ही नहीं, श्रीसेठजी के सभी निकटस्थ जन श्रीघनश्यामदास जालान, श्रीमोतीलाल जालान, श्रीहरिकृष्णदास गोयनका, आदि उन्हें भगवान् चतुर्भुजनारायण के वैकुण्ठवासी पार्षद दृष्टिगोचर होते थे । वे सभी चतुर्भुज, सभी नवघन-मेघवर्ण, मस्तक पर मुकुट, कानों मे मकराकृत कुंडल, वक्षस्थल में कौस्तुभ एवं वनमाला धारण किये, सभी शंख-चक्रादि आयुधधारी होते थे । पू० गुरुदेव सभी को मन-ही-मन प्रणाम करते । उन्हें ऐसा प्रतीत होता था, मानो साक्षात् वैकुण्ठधाम ही पृथ्वी पर उतर आया है । श्रीसेठजी का विलक्षण भागवती वैभव देख पू० गुरुदेव चकित हो जाते थे ।

श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका का गोरखपुर-आगमन अल्पकालीन था। उन्हें शीघ्र ही ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के वार्षिकोत्सव के लिये चूरू जाना था। वे गीताप्रेस की व्यवस्था-सम्बन्धी विचार-विमर्श में उलझ गये । श्रीसेठजी पू० गुरुदेव को भी अपने साथ ही चूरू ले जाना चाहते थे । श्री सेठजी लोकसंग्रही सन्त थे । लोक-कल्याण की भावना कूट-कूट कर भरी होने से वे भारतवर्ष के ग्राम-ग्राम में श्रीमद्भगवद् गीतोक्त निष्काम-कर्मयोग का प्रचार करना चाहते थे । अतः वे चाहते थे कि 'गीतातत्व विवेचनी' के कार्य के साथ पू० गुरुदेव जनसमुदाय में अपने प्रवचनों द्वारा गीता का प्रचार करें । प्रचार की आसक्ति उनमें अत्यधिक थी, कोई यदि सुनने उनके पास नहीं आवे, तो वे उसे सुनाने उसके घर पहुँच जाते थे । सेठजी की दैनन्दिनीचर्या भी एकान्तिक नहीं थी । वे मात्र त्रिकाल संध्या करते समय, गायत्रीजप के लिये तो एकान्त में रहते, शेष समय तो वे चारों ओर कार्यकर्ताओं अथवा जिज्ञासुओं से घिरे ही रहते थे । ब्राह्ममुहूर्त में वे उठ जाते थे, तब से मध्य-रात्रि तक वे अखण्ड एक पल भर भी विश्राम न करते हुए कर्म में लगे रहते थे । उनके सहयोगी भी ऐसे ही परिश्रमी थे । कर्म ही उनकी उपासना था । निष्काम-कर्म को ही वे चित्त-शुद्धि का सबसे अमोघ उपाय मानते थे । भगवान् की स्मृति, भगवान् की सन्निधि का अनुभव करते हुए दिन रात निष्काम-कर्म में लगे रहना, एक क्षण भी कठोर कर्म से हटकर चित्त प्रमाद न कर पावे, इस सावधानी की वे अपने अनुयायियों से पूरी आशा रखते थे । सत्संग-श्रवण एवं सत्संग-व्याख्यान को भी वे इतना प्रामुख्य देते थे कि उनका वश चलता तो वे चौईसों घण्टे सत्संग करवाते रहना चाहते थे ।

पू० गुरुदेव इधर दूसरी धारा में बह चले थे । इधर तीन-चार माह से तो हनुमानगढ़ी के निर्जन स्थान में वे एकान्त कमरे में ही बन्द रहते थे। लोगों से मिलने-जुलने की तो उनकी वृत्ति ही नहीं होती थी, अतः उनके पास कोई आता ही नहीं था ।

उनके पास तो उनके आराध्य वंशीविमोहन रूप में सम्मुख रहते और वे उनके अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य प्रेम में डूबे रहते । अपने आराध्य-भगवान् की परम दिव्य कृपा-सुधावर्षा में उनका अहं, मन, चित्त सब डूबा रहता । उनकी मन की आन्तरिक रुचि यही होती थी कि सम्पूर्ण बाह्य संसार विस्मृत हो जाय और वह साँवरा-सलोना मुरलीमनोहर उनसे अपनी मधुरातिमधुर प्रीतिभरी वाणी में बोलता रहे । वह जो इच्छा हो, सो बोले, चाहे

पोद्दारमहाराज की स्तुति करे, चाहे कुछ भी कहे-सुने, परन्तु वह सर्वेन्द्रिय-मनोहारी उनके सम्मुख बना रहे ।

इधर श्रीसेठजी उन्हें प्रवचन एवं कर्म में लगाकर लोक-कल्याण में प्रवृत्त करना चाह रहे थे । लोक-कल्याण के लिये लोक होना परमावश्यक है । जब लोक होगा, तब न लोक-कल्याण होगा । उनकी वृत्ति तो लोक के रूप में वृन्दावनविहारी को देखना चाह रही थी । वे तो गोपीभाव की इस भूमि को वरण करना चाह रहे थे कि

ऊधो मन न भये दसबीस ।
एक हुतो सो गयो श्याम सँग, को अवराधै ईस ।।

ईश्वर होय तो ईश्वर की आराधना हो, ब्रह्म हो तो ब्रह्म ज्ञान का प्रयास हो, जब मन ही प्रियतम श्यामसुन्दर के संग चला गया, और मन एक ही था, अनेक भी होते तो दूसरे मन से ब्रह्मज्ञान एवं ईश्वराराधना हो जाती, अब कौन, कैसे उद्धव के उपदेश को अपने में उतारे ?

इसी प्रकार पू० गुरुदेव का तो मन ही लोक को छोड़कर अपने प्रियतम श्यामसुन्दर में ही लय होना चाह रहा था, अब लोकोद्धार भला हो तो कैसे हो ? वे निरन्तर वैचारिक द्वन्द्व में हो गये थे । उनके इस मन-मस्तिष्क की परिवर्तित दशा में तो वे गीतातत्वांक का कार्य भी कर पावेंगे, कर सकेंगे, यही निश्चित नहीं कहा जा सकता था ।

फिर श्री गोयन्दकाजी के रूप में भी तो उनके आराध्य ही हैं । वही मनोहारी मुखछवि, वही सर्वांग-सुन्दर रूप, मात्र दो भुजा के स्थान पर चार भुजायें और आयुध । वंशी त्याग देने मात्र से वे बदल गये हों, सो तो है नहीं। तब उनके आदेश की सर्वथा अवहेलना भी कैसे करें ? भगवान् नारायण सर्वपूज्य तो हैं ही । फिर उन्होंने ही गीता कार्य का स्वयं ही श्रीसेठजी के सम्मुख प्रस्ताव रखा था। वे वचन देकर उसकी रक्षा न करें - यह भी शोभनीय कैसे होगा ? उन्होंने यह वचन भी एक महासिद्ध सन्त को दिया है । इस वचन का पालन तो उन्हें पूरी प्राणशक्ति लगाकर करना ही चाहिये ।

इस द्वन्द्वात्मक, अवश स्थिति में ही पू० गुरुदेव को चूरू जाना पड़ा।

(ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम का वार्षिकोत्सव)

जयति देव, जयति देव जयदयालु देवा ।
परमगुरु परम पूज्य परम देव, देवा ।।
सब विधि तव चरन-सरन आइ पर्‌यौ दासा ।
दीनहीन अति मलीन, तदपि सरन आसा ।।

पातक अपार किन्तु दया को भिखारी ।
दुखित जान राखु सरन पापपुंजहारी ।।
अबलौं के सकल दोष छमा करहु स्वामी ।
ऐसो करु जाते पुनि हौं न कुपथगामी ।।

पात्र हौं, कुपात्र हौं, भले अनधिकारी ।
तदपि हौं तुम्हारो अब, लेहु मोहि उबारी ।।
लोग कहत तुम्हरो सब, मनहु कहत सोई ।
करिय सत्य सोइ, नाथ ! भव-भ्रम सब खोई ।।

मोरि ओर जनि निहारि, देखिय निज तनही ।
हठ करि मोहि राखिअ हरि ! संतत तल पनही ।
कहौं कहा बार-बार जानहु सब भेवा ।
जयति, जयति-जयदयालु, जय दयालु देवा ।।

(पू० श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार-रचित गुरु-महिमा का पद)

(भावार्थ)

हे जयदयालु (गोयन्दका) नामधारी देव, नारायण भगवान् ! आपकी जय हो । हे देव, महानारायण ! आपकी सदा ही जय हो । आप परम गुरु हो, परम पूज्य हो, सब देवों के परमदेव हो । मैं दास आपकी चरण-शरण में सब प्रकार से आकर पड़ गया हूँ । मैं महादीन हूँ, सब प्रकार से हीन हूँ, अति मलीन हूँ, फिर भी आपकी चरणों की कृपा की आशा लेकर आया हूँ । मेरे

अपार पातक हैं, फिर भी मैं आपकी दया का भिखारी हूँ । हे पाप-पुंज-हारी मुझे दुखी जानकर अपनी शरण रख लीजिये । अब तक के जितने दोष-अपराध हों, वे हे स्वामी ! क्षमा कर दीजिए एवं ऐसी कृपा कीजिए जिससे भविष्य में मैं कुपथगामी नहीं बनूं, सकूँ । मैं पात्र हूँ, कुपात्र हूँ, भले अनधिकारी हूँ, परन्तु फिर भी तुम्हारा हूँ, अब तो मुझे उबार लीजिये । सब लोग मुझे तुम्हारा कहते हैं, मेरा मन भी ऐसा ही कहता है । अब तो मेरा संसार एवं सांसारिक-जनों के प्रति जो अपनत्व का भ्रम है, वह मिटा दीजिए और इसे ही सत्य कर दीजिए कि मैं तुम्हारा हूँ । प्रभो ! मेरी ओर मत देखिये; अपनी ओर ही देखिये । मुझे हठपूर्वक, हे हरि ! अपने चरण-पादुका के तले में रखिये, जिससे मैं निरन्तर आपके चरणों का संस्पर्श प्राप्त कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं बार-बार क्या कहूँ, आप सब भेदों के जानकार हैं ! हे जयदयालु गोयन्दका-रूप श्रीमन्नारायणप्रभु आपकी जय हो, जय हो, सदा जय हो ।

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयनका का जन्म-स्थान चूरू था । आज भी चूरू मे उनकी पैतृक हवेली है । जिस कमरे में उनका जन्म हुआ एवं जहाँ उन्हें सर्वप्रथम भगवान् नारायण के दर्शन हुए, अभी तक तो ये सभी स्थान सुरक्षित हैं ।

गोरखपुर से चूरू पहुँचने में उन दिनों तीन दिन की रेल-यात्रा करनी पड़ती थी । गोरखपुर से सायंकाल अवध-तिरहुत रेलवे से चलते, वह प्रातः लखनऊ स्टेशन पहुँचाती । वहाँ से पूर्वी-रेल द्वारा दिल्ली पहुँचना होता था । यह गाड़ी भी दिनभर लखनऊ रुकने पर सायंकाल मिला करती थी । फिर बीकानेर-स्टेट-रेलवे भी दिल्ली से लगभग सायंकाल सात बजे छूटती थी सो मध्यरात्रि २ बजे चूरू पहुँचाती थी ।

श्रीसेठजी स्वयं तो फर्स्टक्लास में चलते थे, क्योंकि वे अर्थसम्पन्न गृहस्थ वैश्य थे। पू० गुरुदेव तो सन्यासी थे, उन्हें तो कम-से-कम आर्थिक भार किसी गृहस्थ पर पड़े - यह भावना रखकर निम्नतम श्रेणी में ही यात्रा करनी चाहिए, अथवा पैदल ही चलना चाहिए, ऐसी श्रीसेठजी की मान्यता थी । अतः वे पू० गुरुदेव का थर्डक्लास का ही टिकट कटाते थे । उन दिनों निम्न-श्रेणी में कोई रिजर्वेशन नहीं होता था, मात्र उच्च-श्रेणी में ही सीट अथवा

रिजर्वेशन की व्यवस्था थी । निम्न-श्रेणी में बेशुमार यात्री भेड़-बकरियों की तरह भरे चलते थे । अत: लोग भीड़ को रोकने के लिये थर्डक्लास कम्पार्टमेंट के दरवाजे बन्दकर भीतर से सिटकनी लगा लेते एवं बाहर से आने वाले यात्रियों को अन्दर घुसने से मना ही कर देते थे । सबल यात्री तो लड़-झगड़ कर खिड़कियों से भी घुस जाते थे, परन्तु निर्बल-बूढ़े, स्त्रियाँ, बच्चे अन्दर नहीं घुस पाते थे ।

पू० गुरुदेव की इन दिनों ऐसी मन:स्थिति थी कि उन्हें प्रत्येक जन-जन में उनके आराध्य भरे दिखते थे । उनके आराध्य-भगवान् बाहर स्टेशन प्लेटफार्मों में परेशान इधर-उधर दौड़ते फिरें - रेलगाड़ी के डिब्बों के बन्द दरवाजे खटखटावें और पू० गुरुदेव भीतर सुख-सुविधा से यात्रा करें - यह उन्हें भला कैसे रुचिकर होता । अत: वे यात्रियों के विरोध के उपरान्त भी कम्पार्टमेंट का दरवाजा खोल देते और द्वार पर खड़े होकर बाहर परेशान भीड़ को आह्वान करके अपनी बोगी में भर लेते । अतिशय भीड़ के आ जाने से उन्हें यद्यपि बहुत ही कष्टप्रद यात्रा करनी पड़ती थी, अन्य सहयात्री भी उन पर बहुत क्रोध करते परन्तु वे परेशान यात्रियों को अपना कम्पार्टमेंट खोलकर बुलाये बिना नहीं रहते । इस विचित्र स्वभाव के कारण गुरुदेव की संपूर्ण यात्रा ही अतिशय कष्टप्रद होती थी । यात्रा में न तो उनके शौच-स्नान की ही समुचित व्यवस्था हो पाती, न ही भिक्षा की । परन्तु पू० गुरुदेव को एक अभिनव सन्तोष यह समझकर अवश्य होता था कि मेरे तप एवं कष्टभोग के उपरान्त भी मेरे विश्वरूप में अभिव्यक्त आराध्य श्रीकृष्ण को किंचित् सुख हो गया ।

इस तरह बहुत ही कष्टदायक यात्रा करके पू० गुरुदेव प्रथम बार राजस्थान की स्वर्ण-सी रेतीली भूमि में अपने चरण रख सके । ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू स्टेशन के पास ही था । इस पवित्र संस्था में बालकों को शैशवावस्था में ही भरती कर लिया जाता था । उन्हें भोजन,आवास की सब सुविधाएँ तथा पुस्तकें, कापियाँ आदि सभी शिक्षा-सहयोगी सामग्रियाँ मुफ्त में संस्था द्वारा प्रदान की जाती थीं । वर्षभर का खर्चा समर्थ ब्रह्मचारियों से भी बहुत ही सामान्य, मात्र कहने भर का ही लिया जाता था ।

शिक्षक अधिकांशत: सेवा-परायण, विद्वान, सेठजी के सिद्धान्तों के अनुयायी, निष्काम-कर्मयोगी होते थे । वे ब्राह्ममुहूर्त से कार्य में लगते थे, रात्रि को दस बजे तक बच्चों की सेवा पूर्ण भगवद्भाव रखते हुए करते थे ।

बच्चों को ब्राह्ममुहूर्त में ही शौच-स्नान से निवृत्त होकर प्रातः संध्या करनी पड़ती थी । सभी बालक यज्ञोपवीतधारी एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जाति के ही होते थे । ये खादी के ही पीत वस्त्र पहनते थे । सिले वस्त्र शीतकाल में ही पहने जाते थे । ग्रीष्म में तो इनके स्वस्थ शरीरों का कटि से ऊपर का भाग निर्वस्त्र ही होता था । ये पादुका नहीं पहनते थे, पहनते थे तो काठ की खड़ाऊ पहना करते । प्रातः एवं रात्रि में प्रत्येक बालक को आधा किलो दूध मिलता था । इन्हें प्रातःकाल व्यायाम एवं योगासन कराये जाते थे । आश्रम में वृक्षों का सिंचन, पुष्पों की लताओं को पानी देना, एवं संपूर्ण आश्रम की स्वच्छता में बच्चों का पूरा योगदान रहता था । इनका शयनकाल मात्र ६ घंटे होता था, शेष सभी समय ये या तो यज्ञ-यागादि-धर्म-निष्ठ कार्यों में लगे रहते अथवा परिश्रमपूर्वक अध्ययन में । इन्हें व्यायाम, योगादि के साथ धार्मिक प्रवचन करना भी सिखाया जाता था । गीता कण्ठस्थ करना, उसका अन्वय, पदच्छेद एवं व्यापक अर्थसहित श्लोक-श्लोक का विश्लेषण करना, इनके अध्ययन का अंग था । इसके साथ ही शिक्षा-बोर्ड द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम से इन्हें दसवीं कक्षा तक पढ़ाया जाता था । अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, व्याकरण, कर्मकाण्ड, अमरकोश, गणित आदि सभी विषयों में बालक पूर्ण मेधावी होते थे। साथ ही इन्हें परिश्रमी जीवन का ऐसा अभ्यास करा दिया जाता था कि जीवनभर ये प्रमाद, आलस्य से रहित अति ईमानदार, सच्चरित्र, कठोर परिश्रमी जीवन व्यतीत करने के अभ्यासी हो जावें।

वार्षिकोत्सव के दिन सुबह लगभग सात बजे प्रातःकाल से ही बच्चे पहले व्यायाम,कुश्ती,योगासन,तथा जिमनाष्टिक के खेलों का प्रदर्शन करते थे। इनमें जो सर्वप्रथम आते उन्हें पुरस्कार-स्वरूप गीताप्रेस की बालोपयोगी पुस्तकें दी जाती थी । इसके पश्चात् इनकी, गीता, रामायण संबंधी परीक्षा होती थी। सभी बालकों को प्रायः गीता कण्ठस्थ होती थी, परन्तु इनसे यह पूछा जाता कि अमुक अध्याय का अमुक श्लोक कौनसा है । पीछे किसी श्लोक का उच्चारण कर, उसका अध्याय तथा वह कौनसी संख्या का श्लोक है यह पूछा जाता था । फिर उसका अर्थ पूछा जाता । उसका पदच्छेद, अन्वय एवं व्यापक अर्थ बालक को बतलाना पड़ता। उच्च-कक्षा के विद्यार्थियों से शंका-समाधान भी की जाती थी। वार्षिकोत्सव के समय बालकों के अभिभावक भी बुलाये जाते थे। बालकों का कठोर अनुशासन युक्त परिश्रमी, स्वस्थ शरीर तथा अध्ययन देखकर अभिभावक प्रायः कृतार्थता का अनुभव किया करते थे।

वार्षिकोत्सव में बच्चों के प्रदर्शन के पश्चात् श्रीसेठजी एवं स्वामी रामसुखदासजी महाराज सार्वजनिक सत्संग कराया करते थे। उस दिवस सायंकाल सार्वजनिक सभा में पू० गुरुदेव का प्रवचन हुआ । उनके पश्चात् श्रीपोद्दार महाराज का भक्तिभावपूर्ण प्रवचन हुआ। इस उत्सव में मेरे पूर्वाश्रम (लेखक के) पिताजी भी आये थे । पू० श्रीपोद्दारमहाराज के प्रवचन के पूर्व उनके आग्रह से लेखक के पू० पिताजी ने एक पद-गायन किया था । पू० गुरुदेव श्रीसेठजी एवं भाईजी के सत्संग में अवश्य सुनने बैठा करते । इस प्रवचन के समय भी श्रीभाईजी के पास पू० गुरुदेव बैठे थे ।

लेखक का प्रथम परिचय

ईसवी सन् ! १९३६ में गोरखपुर में जो वर्षभर का सत्संग-सत्र हुआ था, उसमें लेखक के पूर्वाश्रम के मामा श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी, अ०सौ० मामी, एवं मंगला मौसी भी साधक की तरह सम्मिलित हुई थीं । वे सत्र की समाप्ति हो जाने के कारण गोरखपुर से चूरू होते हुए बीकानेर जा रहे थे । मैं, मेरे पिताजी सहित, मेरे मामी-मामा एवं मौसी को लेने चूरू आया था । ईसवी सन् १९३७ के इस ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के उत्सव में मेरी वय मात्र आठ वर्ष की थी । उत्सव देखने की जिज्ञासा भी बालमन में थी । पू० श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) के दर्शन तो मुझे १९३४ ई० में ही हो चुके थे, मैं पाँच वर्ष का लघु बालक अपनी माँ के साथ ही गोरखपुर आया था । उन दिनों मेरे पिताजी श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी भी गीताप्रेस में काम करने आ गये थे। मेरे मामाजी ने उन्हें बुला लिया था । मुझे सेठजी जयदयालजी गोयन्दका के दर्शन नहीं हुए थे । अत: उनके दर्शन हो जायेंगे, चूरू आने का यह भी एक प्रयोजन था ।

श्री भाईजी का सत्संग सरस भक्तिभाव से युक्त होता था । इस सत्संग से पूर्व मेरे पू० मामा श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी भगवन्नाम संकीर्त्तन कराया करते थे । मुझे सत्संग तो समझ में आता नहीं था, हाँ, मेरे मामा जब झाँझ, करताल, ढ़ोलक सहित नाम कीर्त्तन कराते तो बहुत ही आनन्द आता था । मैं कीर्त्तन का शौकीन भी बहुत था, स्वयं भी कीर्त्तन किया-कराया करता । अत: उनके कीर्त्तन में सम्मिलित होने अपने पिता एवं मामा के पास बैठा था। मेरे पू० मामा कीर्त्तन करा रहे थे ।

राधारमण जय कुजाबेहारी, मुरलीधर गोवर्द्धनधारी ।

कीर्त्तन बहुत ही सुमधुर हो रहा था । मेरे मामा का स्वर बहुत मधुर था । मैंने मेरे पू० नाना से सुन रखा था कि मेरे मामा के कण्ठ में श्रुतियाँ लगती हैं । किस राग में किस स्वर को किस श्रुति से गाया जाता है, यह संगीतशास्त्र की गायकी उच्चतम कोटि के गायकों से ही संभव होती है । हारमोनियम नामक वाद्ययंत्र में तो मात्र कोमल, एवं तीव्र स्वर मिलाकर बारह स्वर ही होते हैं । श्रुतियुक्त गायन करने वाले की सारंगी नाम तंतुवाद्य द्वारा ही सांगोपांग संगत संभव होती है । हारमोनियम वहाँ तो बेसुरा हो जाता है।

मैं देख रहा था -- पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) के पास एक तरुण सन्यासी ध्यानस्थ बैठे थे । मेरे पू० मामाजी का संकीर्त्तन वे बहुत ही मनोयोगपूर्वक सुन रहे थे । मैं बार-बार उन्हें ही देखता जा रहा था । मुझे यह तरुण सन्यासी, जिसकी उस समय उम्र मात्र तेईस-चौईस वर्ष की थी, बहुत ही आकर्षक लग रहा था । प्रथम दर्शन में ही इसने मुझे मोह लिया ।

संकीर्त्तन में ही श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ध्यानस्थ हो गये । कीर्त्तन में सभी को इतना अधिक आनन्द आया कि सभी श्रोता भावुक हुए आँसुओं से नेत्र गीले कर चुके थे । थोड़ी देर पश्चात् पू० श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) ने आँखें खोलीं । उन्होंने नवागन्तुक मेरे पिताजी की ओर अतिशय स्नेह से देखा, फिर उन्हें सिर झुकाकर ब्राह्मण एवं बहनोई होने के नाते प्रणाम किया और तब कोई पद गायन करने को कहा । मेरे पू० पिताजी भी अच्छे गायक थे । यद्यपि ये सभी बातें आज से साठ वर्ष पूर्व की हैं परन्तु बाल-जीवन की कुछ बातें ऐसी अमिट अंकित हो जाती हैं कि वे जीवनभर स्मरण होते रहने के कारण ज्यों-की-त्यों मृत्यु के समय तक स्मृति में रहती हैं ।

श्री (भाईजी) पोद्दारमहाराज के आग्रह पर मेरे पिताजी ने उस दिन जो अष्टछाप का पद सुनाया, वह भी मुझे अब तक याद है । पद के शब्द थे -

कृष्ण नाम जबतें श्रवणन सुन्यो री आलि
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री
भरि, भरि आवैं नयन,
चित हू न परै चैन, मुखतैं न निकसैं बैन
तन की दसा कछु औरहू भई री

जेतेक मैं नेम-धरम कीने री बहुत विधि,
अंग-अंग भई हौं तो श्रवण मईरी
नन्ददास जाके श्रवणन यह गति भई री,
माधुरी मूरत कैधौं कैसी हो दईरी,

इस गायन को सुनकर पू० श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) बहुत ही अन्तर्मुखी हो गये थे । उनकी चेष्टा करने पर भी सत्संग प्रारम्भ करने की क्रिया हो ही नहीं रही थी । वे सत्संग के पूर्व कुछ मंगलाचरण के श्लोक बोला करते थे, वे भी बोल नहीं पा रहे थे । वे किसी प्रकार "मूकं करोति वाचालं" तो बोल गये फिर पंगुम् कह कर चुप हो गये । कुछ क्षण ध्यानस्थ हो गये, तब किसी प्रकार यह श्लोक पूरा किया -

मूंक करोति वाचालं पंगुल्लंघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम् ।।

इसके पश्चात् दूसरे श्लोक में वे पुनः अटक गये
"वन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं" कहकर पुनः चुप हो गये । मेरे मामाजी ने इस श्लोक को पूरा किया।

वन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं कुन्देन्दुशंखदशनं शिशुगोपवेषम्
इन्द्रादिदेवगणवन्दितपादपीठं वृन्दावनालयमहं वसुदेवसूनुम् ।।

श्री भाईजी (पोद्दार महाराज) को पुनः ध्यानस्थ देख मेरे पू० मामाजी ने नाम संकीर्तन प्रारंभ कर दिया ।

जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द

मेरी दृष्टि न तो पिताजी पर थी, न ही मामाजी पर । मैं तो या तो पू० भाईजी के बहते आँसुओं पर दृष्टिपात किए था, अथवा पू० गुरुदेव के आनन पर मेरी दृष्टि जमी थी । उनके नेत्रों से भी अश्रुधार बह रही थी । पू० गुरुदेव काष्ठवत् बैठे थे । उनके नेत्रों से झरते बिन्दु उनके कपोलों पर ठहरे थे। श्रीपोद्दार महाराज कुछ काल में प्रकृतिस्थ हो गये एवं तब उनका प्रवचन प्रारम्भ हो गया । यह मेरा पू० गुरुदेव से प्रथम साक्षात्कार था ।

सत्संग के पश्चात् भोजनोपरान्त मैं अपनी मौसी से मिलने चला गया । मेरी मौसी मंगला देवी वर्षभर के सत्संग-सत्र में पूरे नियम निभाती हुई रही थी । मैनें उससे सरलतावश इतना ही पूछा - "मौसी ! तूने बारह माह तक इतना जप, कीर्त्तन, भजन, साधन किया, तुझे भगवान् के दर्शन हुए या नहीं।" उसने सर्वथा इनकार करते हुए कहा कि मुझे तो सर्वथा नहीं हुए । "पू० मामाजी (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी) को भगवान् के दर्शन हुए या नहीं ?" यह मेरा उससे दूसरा प्रश्न था। उसने उत्तर दिया - "यह प्रश्न तो उनसे ही पूछ ?" फिर उसने मुझे बताया कि भगवान् सेठजी जयदयालजी गोयनका के पीछे-पीछे फिरते हैं । वे जिसे भी चाहें भगवान् के दर्शन करा सकते हैं । फिर मैने पूछा - "क्या सेठजी मुझे भी भगवान् के दर्शन करा देंगे ?" उन्होंने कहा - "तू उनसे प्रार्थना कर । उन्होने भाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दार को भगवान के दर्शन कराये हैं ।"

जो एक को दर्शन करा सकता है वह दूसरे को भी चाहे तो भगवान् के दर्शन करा देगा । भगवान् उनकी सब बातें मानते हैं । भाईजी से भगवान् ने दर्शन देते समय यह कहा था कि "सेठजी चाहें तो मैं यहाँ जितने लोग बैठे हैं, सभी को दर्शन दे सकता हूँ।" सेठजी ने अपनी भक्ति से भगवान् द्वारा यह अधिकार प्राप्त किया है । मैने मेरी मौसी से पूछा - "ये युवक सन्यासी कौन हैं ?" उसने उत्तर दिया "कोई बहुत बड़े ज्ञानी सन्यासी हैं, अभी नये ही आये हैं, मैं नाम नहीं जानती । सत्संग बहुत ही अच्छा कराते हैं । बहुत ही त्यागी हैं । सात घरों से भिक्षा लेकर खाते हैं । आसन सिद्ध महात्मा हैं। सदा ध्यानस्थ बैठे रहते हैं ।"

लगभग सायंकाल तीन-साढ़े तीन बजे मेरे पिताजी पू० गुरुदेव से मिलने उनकी कुटिया में गये । मैं भी उनके साथ था । मेरे पिताजी के साथ पू० गुरुदेव की यह वार्ता मेरे बालमन में इतना घर कर गयी थी कि मुझे अब तक इसकी शब्दावली स्मरण है । मेरे पिताजी का पहला प्रश्न था - "स्वामीजी आप बहुत ही छोटी उम्र में सन्यासी हो गये हैं क्या आपको अपने भविष्य जीवन की चिन्ता नहीं होती ?"

पू० गुरुदेव ने अति संक्षेप में उत्तर दिया - "मैंने अपनी चिन्ता भगवान् श्रीकृष्ण पर छोड़ दी है, मैं तो बस उनकी चिन्ता किया करता हूँ ।" इस

उत्तर पर मेरे पिताजी बहुत ही प्रभावित एवं मुग्ध हो गये । उन्होने कहा - "यह तो हमारे वल्लभ-सम्प्रदाय का सिद्धान्त है । मैंने तो सुना है आप ब्रह्मवादी सन्त हैं, सगुण-साकार भगवान् पर विश्वास नहीं करते ।" पू० गुरुदेव कहने लगे - "फिर तो मेरे पास चिन्ता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञानी में तो स्वप्न में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद एवं चिन्ता आदि का लेश भी नहीं होना चाहिए ।"

पू० पिताजी ने कहा - "स्वामीजी ! मैं तो पूरा आस्तिक भी नहीं बन पा रहा हूँ । वैसे सम्प्रदाय में बालकपन से कीर्त्तन करता रहा । अतः अष्टछाप के पद गायन कर लेता हूँ । भीतर से भगवान् का विश्वास हट रहा है।"

पू० गुरुदेव ने कहा - "आप सच्चे निष्कपट, दंभहीन ब्राह्मण हैं, अतः मन के भीतर की बात सरलता से प्रकट कर देते हैं । आपको जब भी अवसर मिले श्रीभाईजी को कीर्त्तन सुनाया करिये । आप सच्चे आस्तिक अवश्य, अवश्य हो जावेंगे।"

पू० पिताजी ने कहा - "मैं तो स्वामीजी आपसे परिचय करने आया था, आपको देखकर ऐसा लगा जैसे मेरा कोई अति आत्मीयजन सन्यासी हो गया है। अतः आपके संबंध में जिज्ञासा थी ।" पू० गुरुदेव ने उत्तर दिया - "आप मेरा सम्पूर्ण परिचय श्रीकृष्ण से पूछिये । देखिये, इस मलिन नश्वर देह का क्या तो परिचय ? मैं तो इतना ही जान पाया हूँ, जीवत्व उनकी ही वस्तु है। मीठा या खारे का ज्ञान जैसे खानेवाले को होता है, इसी तरह ठीक-ठीक मैं कैसा हूँ यह श्रीकृष्ण ही बता सकते हैं । मेरे विचार, जन्म-कर्म-अभिमान का सारा लेखा-जोखा उनके ही पास है । भविष्य में भी मेरा दुःख-दर्द, सारा भार उनको ही वहन करना है । यह तन-मन जो भी आपको दिखता है सब उनका है, वे इसे रोगी, अभावग्रस्त, सुरक्षित, असुरक्षित जैसे रखना चाहेंगे, रखेंगे । कोई उनके विधान के बीच में टाँग अड़ाना भी चाहे तो टाँग अड़ा नहीं सकता । जीवन तो उनके विधानानुसार ही व्यतीत होगा ! अपने मन की कल्पना की उड़ान तो सर्वथा शेखचिल्लीवाली बात है अतः मैं उनको पूर्णतया समर्पित हो जाऊँ, आप यही आर्शीर्वाद दें । आप वैष्णव हैं, श्रीकृष्ण गुण-गानमय आपका जीवन है, अतः मेरी दृष्टी में आप श्रीकृष्ण स्वरूप हैं, मेरी आपके चरणों में यही विनय है ।"

(मेरे पिताजी ने अपनी डायरी में इस घटना को ज्यों-का-त्यों उतार लिया था । मेरे पू० पिताजी कहते थे पू० पोद्दार महाराज (भाईजी) को यह

"कृष्णनाम जबतें श्रवणन सुन्यौरी आली" पद जिस शुभ दिवस सुनाया था, उसके कुछ ही दिनों पश्चात् से उनके मन के नास्तिक भाव क्रमशः विलीन होते गये । इसके पश्चात् उनका जीवन निरन्तर कृष्ण-गुणगान मय, परम भगवद्विश्वासी, आचार्य वैष्णवों के प्रति परम श्रद्धा-सम्पन्न हो गया। आगे भविष्य में तो उन्होनें पू० गुरुदेव को अनवरत १०-१२ घंटों तक जब भी अवसर मिला अष्टछाप वैष्णवों के पद सुनाये । उनका संपूर्ण जीवन भगवत्सेवामय ही व्यतीत हुआ। आगे जाकर पू० गुरुदेव ने मेरे पिताजी से पता लेकर वल्लभ संप्रदाय में गाये जाने वाले कीर्त्तन संग्रह तीनों भाग बम्बई से श्री भगवानदास सिहानियाँ को पत्र लिखकर रतनगढ मँगाए थे)

मेरा एवं मेरे पिताजी का पू० गुरुदेव से यह प्रथम वार्तालाप था । दूसरे दिवस सन्ध्या समय लगभग चार ही बजे होंगे मैं पुनः पू० गुरुदेव के पास चला गया । मैं पू० गुरुदेव के पास अकेले ही बिना किसी को सूचना दिये चला आया था । गुरुदेव ध्यानस्थ बैठे थे । उन्होंने कुछ काल पश्चात् ध्यान से विरत हो आँखें खोलीं ! मैंने उन्हें प्रणाम किया एवं कहा -"मैं चिम्मनलालजी गोस्वामी का भानजा हूँ । आपसे कुछ बातें पूछने आया हूँ। कल पू० पिताजी के साथ आया था । मेरी मौसी कहती है - "सेठजी के पीछे-पीछे भगवान् फिरते हैं । उन्होने अपने भक्ति-भाव से भगवान् को वशीभूत कर लिया है । उन्होने भाईजी (मेरे बड़े मामाजी) को भी भगवान् के दर्शन कराये हैं ।" मैं आज श्रीसेठजी गोयन्दकाजी को सत्संग के बाद हाथ पकड़कर उठने नहीं दूँगा । मैं हठ करूँगा, वे मुझे भगवान् के दर्शन करावें। जब तक वे हाँ नहीं करेंगे हठपूर्वक उन्हें छोड़ूँगा नहीं । मैं आपसे पूछने आया हूँ मुझे ऐसा करना चाहिए या नहीं ।"

पू० गुरुदेव मेरी सरल बाल-उक्ति पर बहुत ही प्रसन्न हुए । उन्होंने मुझसे कहा - "मै तो स्वयं मानता हूँ कि सेठजी एवं भाईजी दोनों ही सिद्ध महापुरुष हैं और यदि चाहें तो तुझे इसी क्षण भगवान् के दर्शन करा सकते हैं। वे तुझे करायेंगे या नहीं करायेंगे, यह तो वे जानें, परन्तु तेरा हठ करना मुझे अनुचित सर्वथा नहीं लगता ।"

पू० गुरुदेव की यह अप्रत्याशित बात सुनकर मुझे बहुत ही हर्ष हुआ । मैं तो सोचता था कि मेरे पू० मामाजी अथवा पिताजी को इस मेरे मनोरथ की पूर्व गंध ही मिल गई तो मुझे सत्संग में लाना ही स्थगित कर देंगे एवं सीधा

बीकानेर भेज देंगे । ये बाबा तो बहुत ही अच्छे हैं । मैं उनका अनुमोदन पाकर प्रणाम करके दौड़ गया ।

दूसरे दिवस प्रातःकाल भरी सभा में मैंने एक नाटक खड़ा कर दिया । मैंने सेठजी के घुटने पकड़ लिये। श्री पोद्दार महाराज भी पास ही बैठे थे । एक हाथ उनका भी पकड़ा । "मुझे अभी भगवान के दर्शन हों" - यह मेरा बाल आग्रह था। श्री पोद्दार महाराज तो सेठजी को मुझे पकड़ाकर चल दिये । सेठजी हँस-हँसकर मुझसे विनोद करते रहे, "भाया ! म्हारै घूँजिये में भगवान् थोड़े ही है ।" परन्तु मैंने उन्हें नहीं छोड़ा । मेरा यही तर्क था कि मेरी मंगला मौसी झूठ नहीं बोलती । वह बारह माह व्रत लेकर सत्संग करके गोरखपुर से आयी है । वह कहती है कि आपके पीछे-पीछे भगवान् फिरते हैं। आपने श्री पोद्दार महाराज को भगवान् के दर्शन कराये, मुझे भी कराइये। आप चाहें तो यह असंभव संभव हो सकता है । लगभग आधे घंटे तक यह मेरा बालहठ चलता रहा । श्रीसेठजी से आशीर्वाद पाकर मैं वहाँ से हटा था।

गीता विवेचनी का कार्य

(चौपदे)

जो ज्ञान शुद्ध रसमय तरु दो तोरण हैं बने हुए प्रियतम !
है एक सारथी रथ चिन्हित, मुनि कीर एक पर है प्रियतम !
सन्धिस्थल पर मिलती सी हैं दो सत्ता जहाँ अहो ! प्रियतम !
इस दृश्यविश्व का इधर,और उस ओर तूर्य रस का प्रियतम।।१९।।

दोनों द्रुम से लिपटी फूली वह भावमयी वल्ली प्रियतम !
जो है, उसकी टहनी पर ही पिंजरा था झूल रहा प्रियतम !
उसके भीतर पत्रों से सट बैठी थी मैं विहगी प्रियतम !
उन रागों से मन बहलाती उर में रखकर तुमको प्रियतम !।।२०।।

कोई क्षण भर के लिये विहग बाहर का सुन लेता प्रियतम !
मेरा स्वर, और मुग्ध होता, पर दाद न दे पाता प्रियतम !
केदारा, नट या मालकोश, पीलू ही गाती थी प्रियतम !
मेरे पर षड़ज ऋषभ सब वे थे भिन्न, न मिलते थे प्रियतम !।२१।

संचालित तुम कर देते थे पिंजड़े को, वह हिलता प्रियतम !
झौंटा खाकर डर जाती थीं, सुखमत्त कभी होती प्रियतम !
चिन्तित सी कभी क्षणिक होती, भाव्री है क्या मेरी प्रियतम !
पर हुआ न अहो विराम कभी मेरी स्वर-लहरी का प्रियतम ! ।२२।।

अब सुनो रसीली वह गाथा, तुमने सरकाया था प्रियतम !
पिंजड़े को उस टहनी पर ही, पूरब की ओर किया प्रियतम !
मैं लगी देखने दृश्य सुखद शुभ था विपाक आया प्रियतम !
भावुकतामय मेरे जो थे वे सत् प्रयास उनका प्रियतम ! ।।२३।।

बैकुण्ठ नाम की नगरी थी, ज्ञानी थे एक वहाँ प्रियतम !
राजा विदेह के सदृश भला प्रेमी रघुकुलमणि के प्रियतम !
आदर्श चरित्रों के वे थे, 'जय सीताराम' तथा प्रियतम !
'नारायण' नाम अधिक उनको प्रिय था ऐसा लगता प्रियतम ! ।२४।।

जीवन में उनके छाया थी उस तुलाधार की भी प्रियतम !
थे अतिशय सरल, दक्ष पर थे जग के व्यवहारों में प्रियतम !
देखा था उनको मैंने जब आकाशचारिणी थी प्रियतम !
होती थी सुनकर फुल्ल सदा प्रवचन पवित्र उनका प्रियतम ! ।।२५।।

पिंजड़े पर हाथ धरे रहते हरदम वे थे अपने प्रियतम !
थे खड़े उधर तुम भी छिपकर उस पर कर मृदुल रखे प्रियतम !
थी नहीं अहंता उनमें फिर, पिंजड़े में क्या रहती प्रियतम !
मुझ से विनोद करने की थी वह युक्ति अहा कैसी प्रियतम ! ।।२६।।

बातें सुर सरिता तट पर की रवितनय तपोवन की प्रियतम !
वे हैं इससे पहले की, पर कहने लग जाऊँ तो प्रियतम !
लंबी अत्यधिक कथा होगी, श्रोता भी हैं न यहाँ प्रियतम !
जिनके दृग बनें सजल सुनकर, इसलिये छोड़ दी हैं प्रियतम ।।२७।।

इच्छा थी केवल आठ गीत लेकर उन गीतों से प्रियतम !
गा जाऊँ, पर लीला जब है हो रही यहाँ ऐसी प्रियतम !
है उचित यही कुछ दिन देखूँ, कैसे क्या होता है प्रियतम !
तुम तो हँसते ही हो हरदम, मैं भी क्यों नहीं हँसूं प्रियतम ! ।।२८।।

(चौपदों का भावार्थ)

एक वन में दो वृक्ष दो तोरण बने हुए हैं । एक वृक्ष शुद्ध ज्ञान का है और दूसरा विशुद्ध रसमय है । एक वृक्ष पर जो शुद्ध ज्ञान का है, उस पर एक रथ का चिन्ह है जिसमें सारथी बने श्रीकृष्ण हैं, एवं दूसरे पर शुक-मुनि चिह्नित हैं। अहो प्रियतम ! संधिस्थल पर ये दोनों सत्ताएँ जहाँ मिलती सी हैं, इधर एक तरफ इस विश्व का दृश्य है, और दूसरी ओर तुरीय रस का। ।।१९।।

जो वह भावमयीवल्ली है, हे प्रियतम ! जो दोनों द्रुमों से लिपटी विकसित है, उसकी टहनी पर ही वह (पोद्दार महाराज रूप) पिंजरा झूल रहा था । मैं विहगी उस पिंजरे के भीतर पत्तों से सटकर बैठी थी । हे प्रियतम ! मैं तुमको अपने उर में रखकर रसमय रागों से अपना मन बहला रही थी ।।२०।।

मेरे स्वर एवं राग कोई भी बाहर का विहग यदि क्षण भर के लिये भी सुन लेता तो मुग्ध तो होता था, परन्तु मेरे गायन पर दाद नहीं दे पाता था। यद्यपिं हे प्रियतम ! मैं गाती थी केदारा राग, मालकोश, या पीलू ही परन्तु मेरे षडज, ऋषभ सभी भिन्न थे, वे दूसरों से मिल नहीं पाते थे ।।२१।।

हे प्रियतम ! तुम मेरे पिंजड़े को संचालित कर देते थे, झौटा खाकर वह हिलता था, और मैं डर जाती थी, कभी उस झौंटे से मैं सुख में मत्त भी हो जाती थी, कभी क्षणिक चिन्तित सी भी हो जाती कि मेरा भावी विधान क्या है ? परन्तु हे प्रियतम ! मेरी स्वर-लहरी का कभी भी विराम नहीं हुआ ।।२२।।

हे प्रियतम ! अब तुम्हें मैं वह रसीली गाथा सुनाती हूँ , तुमने पिंजडे को उस टहनी पर ही पूरब की ओर करके सरकाया था और मैं वह सुखद दृश्य

देखने लग गयी थी । मेरे जो भावुकता मय सत् प्रयास थे उन सबका फलोन्मुख होने का समय आया था । ।।२३।।

एक वैकुण्ठ नामकी नगरी थी, वहाँ एक महाज्ञानी रहते थे । वे विदेह जनक राजा के सदृश थे एवं रघुकुलमणि भगवान् राम के प्रेमी थे । उनके सभी चरित्र आदर्श थे । उनको हे प्रियतम ! 'जय सीताराम' तथा 'नारायण' नाम अधिक प्रिय है, ऐसा लगता था ।।२४।।

उनके जीवन में तुलाधार वैष्य की भी छाया थी । वे चित्त के बहुत ही सरल थे, परन्तु संसार के व्यवहारों में बहुत ही दक्ष एवं चतुर थे । जब मैं आकाशचारिणी थी,उन दिनों उनको मैंने देखा था । मैं उनका पवित्र प्रवचन सुनकर प्रफुल्लित हो जाती थी ।।२५।।

वे अपने हाथ हरदम पिंजड़े पर रखे रहते थे और उधर हे प्रियतम तुम भी छिपकर उसी पिंजड़े पर अपना मृदुल कर रखे थे । जब उनमें अहंता ही नहीं थी तो फिर पिंजड़े से भला क्या आसक्ति होती, परन्तु अहा ! मुझसे विनोद करने की वह युक्ति कैसी थी ! ।।२६।।

सुरसरिता (गंगा) तट की बातें अथवा रवितनय-तपोवन की बातें जो सब इससे पहले की हैं, वे यदि कहने लग जाऊँ तो कथा अत्यधिक लम्बी हो जायेगी, फिर यहाँ उस लम्बी कथा के श्रोता भी तो नहीं हैं, जिनके नेत्र उस कथा को सुनकर सजल होने लगें - अत: मैंने वह प्रसंग ही छोड़ दिया है ।।२७।।

मेरी मात्र आठ गीत लेकर उन गीतों से गा जाने की इच्छा थी, परन्तु अब यहाँ जब ऐसी ही लीला हो रही है तो उचित यही है कि कुछ दिवस प्रतीक्षा कर देखूँ कि कैसे क्या होता है । तुम तो हर स्थिति में हँसते ही हो तो मैं भी क्यों नहीं हँसूँ । ।।२८।।

चौपदों में अन्तर्हित भाव

परात्पर परमतत्व-स्वरूप परम सत्य तो एक है । श्री मद्भागवत ने इसी परम सत्य को तीन नामों से उच्चारित किया है।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।। श्री मद्भागवत १/२/११।।

ये तीन नाम हैं :-(१)निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म, (२) सगुण-निराकार-सविशेष परमात्मा, (३) सगुण साकार सविशेष भगवान् ।

वास्तव में उपरोक्त कथन तीन प्रकार के साधकों की अनुभूति की ही अभिव्यंजना है।

एकही परमतत्व को विशुद्ध ज्ञान-तट से देखनेवाले ज्ञानी निर्गुण-निराकार निर्विशेष, ब्रह्म कहकर अभिव्यञ्जित करते हैं, इसी सत्य को योगी लोग सगुण-सविशेष निराकार परमात्मा कहकर एवं भक्तलोग सगुण-सविशेष साकार भगवान् कहकर सम्बोधित करते हैं ।

पू० गुरुदेव का अपने सन्यास काल में दो तीर्थों से परिचय हुआ । तीर्थ शब्द तृ धातु से बना है । तृ' धातु का अर्थ है, तरण या उत्तरण-अर्थात् जिसकी सहायता से हम कोई दुर्गम मार्ग, कोई एक नदी, कोई आवरण, कोई संकट पार कर लें, उसका नाम है तीर्थ । नदी के तीर्थ घाट हैं । जिसकी सहायता से कोई दुर्गम या दुरतिक्रम व्यवधान पार किया जाता है, उसी को तीर्थ कहते हैं । गुरु भी तीर्थ होते हैं, क्योंकि उनकी सहायता से हम लोग भवसागर पार कर सकते हैं । इन दो तीर्थों का यहाँ इन चौपदों में दो तरुओं, वृक्षों के तोरण के रूप में वर्णन है । एक तीर्थ थे, श्री जयदयालजी गोयनका जो शुद्ध ज्ञान के उपासक थे, परन्तु साथ ही पातञ्जल योग को भी संस्पर्शित करते थे, अतः निर्गुण, निराकार, निर्विशेष ब्रह्म तत्व और सगुण-निराकार सविशेष परमात्मतत्व दोनों के समन्वित व्याख्याकार थे । दूसरे तीर्थ थे, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार इन्हें योगियों की परम उच्च-स्थिति निर्विकल्प समाधि की भी सहज उपलब्धि थी, साथ ही निर्गुण, निराकार निर्विशेष तत्व का भी अनुभव था एवं सगुण-साकार-सविशेष भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम-रस में भी वे पूर्णतया पगे हुए थे ही ।

इन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार पर ऐसी विलक्षण भगवत्कृपा थी कि उन्हें उन भगवान् श्रीकृष्ण के मात्र दर्शन ही नहीं, उनकी सहज-सुलभ प्राप्ति थी, जो भगवान् सच्चिन्मय निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म की, अविनाशी नित्य तत्व-ज्ञान रूप मुक्ति की, साथ ही भक्तिरूपी परम धर्म की और प्रेमरसमय परमानन्द रूप एकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा, अपने को गीतोपनिषत् में कहते हैं।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।
(गीता- १४/२७)

ये श्रीकृष्ण जो श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार के परम प्रेमास्पद प्रियतम एवं जीवन-सर्वस्व थे, वे श्रीमद्भागवत में वर्णित निर्विशेष अखण्ड चित्सत्तामात्र ब्रह्म को अपनी महिमा बताते हैं ।

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।।

'मेरी महिमा ही परब्रह्म शब्द से कही जाती है ।'

ये त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर जो भाईजी श्रीपोद्दार महाराज को प्राप्त थे, इतने महिमा समन्वित थे कि पद्मपुराण में उनकी नखचन्द्र की ज्योति को 'ब्रह्म' बताया गया है ।

ये दो वृक्ष जो तोरण बने हुए थे, इनमे एक तोरण द्वार पर तो सारथी युक्त रथ का चिह्न चिह्नित था, अर्थात् रथ पर बैठे अर्जुन नें अपने सारथी श्रीकृष्ण से जो गीता ज्ञान सुना है- वह वृक्ष उस ज्ञान को पूरा आत्मसात् किए हुआ था ।

श्री जयदयालजी गोयनका गीता के तत्व-रहस्य को पूर्णतया हृदयंगम करने वाले, साथ ही उस तत्व को अक्षरश: अपने जीवन में उतरा हुआ देखने वाले महात्मा थे ।

दूसरे तोरण बने वृक्ष पर शुक मुनि अंकित थे । अर्थात् ये श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार श्रीशुकदेव मुनि द्वारा वर्णित श्रीमद्भागवत शास्त्र के हृदय रूप रस-रास को, परम प्रेमतत्व को अपना जीवन बनाये हुए थे ।

यद्यपि ये दोनों महान् विभूतियाँ भिन्न-भिन्न साधनाओं के प्रचारक थे, एक के हृदय में विश्व का दृश्य था और वे विश्व-कल्याण की अदम्य भावना से लोक-संग्रही थे और दूसरे तूर्य प्रेमरस में आपातत: पगे-डूबे थे । दूसरे के सम्मुख तो विश्व था ही नहीं, विश्व के स्थान पर हाथ में मुरली-विधृत नवनीरदवर्ण पीताम्बरधारी ललित-त्रिभंग श्रीकृष्ण साक्षात् मुसका रहे थे । जब विश्व दिखे तब न विश्व का कल्याण हो, जहाँ विश्व विलुप्त हो जाय, ऊँट के सींग की तरह और जिसके हृदय को परम प्रियतम अपनी मुनिमन-मोहनी, स्वमन-मोहिनी मुसकान से आठों प्रहर अखण्ड-अविराम उद्भासित कर रहे हों, वहाँ कौन लोक और किसका कल्याण हो । जिसको वृन्दावनचारी, गोपीजन- चितचोर के चरणारविन्दमकरन्द की सुगन्ध सूँघने को नहीं मिली, वही तो चमड़ी, मांस, रुधिर अथवा मन-बुद्धि-चित्त अहंकार से भरे विश्व को उसके कल्याण को सूँघता फिरेगा । जिसके नयनों में, मन में **"बर्हापीडं नटवर वपु: कर्णयो: कर्णिकारं"** बस गया है वहाँ जगत कहाँ घुस सकता है ।

यदि वहाँ जगत प्रपंच कभी क्षणांश के लिये घुसने का साहस भी कर बैठे तो बिना मारे मर जाता है । वहाँ लोक-संग्रह, लोकोद्धार भला कैसे संभव हो पावे । अत: दोनों भिन्न-भिन्न रुचियों के थे । फिर भी ऐसा भगवद्विधान था कि ये दोनो वृक्ष जो तोरण बने हुए थे, एक भावमय वल्ली से जो दोनों तरुओं से लिपटी थी, जुड़े हुए थे । अर्थात् 'कल्याण' पत्र एवं गीताप्रेस के कार्य से दोनों ही सन्त भगवत्प्रेरणा से जुड़े हुए थे । यह भावमय वल्ली (गीता एवं सद्ग्रन्थ प्रचार की भावना) की एक टहनी पर वह पोद्दार महाराज का शरीर रूप पिंजरा झूल रहा था । मैं विहँगी इस पोद्दार महाराज के शरीर रूप पिंजरे के भीतर पत्तों से सटकर बैठी थी । मैं तुम नीलसुन्दर, मेरे प्राणधन को अपने हृदय में धारण किये थी और विशुद्ध प्रीति के रसमय रागों में अपने मन को बहला रही थी ।।१९-२०।।

कोई बाहर का पंछी जो सेठजी (गोयनकाजी) एवं भाईजी (श्रीपोद्दार महारांज) की प्रख्याति से इस विहगी का गायन भी सुन लेता तो एक बार उसकी सरल सच्ची त्यागपूर्ण रहनी से मुग्ध तो अवश्य होता, परन्तु उसका सच्चा प्रशंसक, दाद देने वाला नहीं बन पाता था । क्योंकि सिंहनी का दूध स्वर्ण-पात्र में ही टिक पाता है । दूसरे जो फुलेल चमेली के तेल से ही संतुष्ट हो जाय, वह इत्र का पारखी, उसे दाद देने वाला नहीं बन सकता । यद्यपि मैं विहगी सर्वजन प्रचलित राग केदारा, नट, मालकोश अथवा पीलू ही प्राय: गाती थी, कठिन राग नहीं गाती थी परन्तु फिर भी मेरे स्वर षड़ज, रिषभ आदि सब दूसरों से मेल नहीं खाते थे, बेमेल थे, दूसरे सन्तों से मिलते नहीं थे ।

हे प्रियतम ! तुम कभी-कभी खेल कर बैठते थे, खेल करना तुम्हारा अनादि स्वभाव जो ठहरा, सो पिंजरे को संचालित कर देते थे, वह पिंजरा झौंटा खाकर हिल जाता था, अर्थात् श्रीपोद्दार महाराज का अति विचित्र स्वभाव था, वे अकारण पू० गुरुदेव पर कभी-कभी बहुत क्रोधित हो उठते थे, सामंजस्य न कर पाने योग्य माँगें कर बैठते थे, कभी-कभी तो मैं उनके इस आत्मसंगोपनयुक्त व्यवहार का रहस्य समझकर सुखमत्त होती थी और कभी-कभी डर जाती थी कि इस पिंजड़े को यदि मैंने छोड़ दिया तो फिर मेरा क्या कैसा भविष्य होगा । परन्तु उस समय भी मेरी इस विशुद्ध प्रीति-रस की स्वर-लहरी का विराम कभी नहीं होता था ।

अब हे प्रियतम ! मैं तुम्हें वह रसीली गाथा सुनाती हूँ, सर्वप्रथम तुमने उस टहनी पर ही इस पिंजडे को सरकाया था और पूरब की ओर किया था। मैं सुखद दृश्य देखने लगी थी क्योंकि मेरे जो भावुकतामय सत् प्रयास थे उनका शुभ फलदान का समय आगया था ।

एक वैकुण्ठ (बाँकुडा) नाम की नगरी थी । वहाँ श्रीगोयन्दकाजी रूप एक ज्ञानी संत रहते थे । वे विदेह राजा जनक के सदृश ज्ञान की चतुर्थ भूमिका में सदा रहते थे । वे मर्यादा पुरुषोत्तम रघुकुलमणि भगवान रामचन्द्रजी के प्रेमी थे एवं स्वयं भी मर्यादापुरुषोत्तम राम की ही तरह आदर्श चरित्रों के भी थे । हे प्रियतम, उनको 'जय सीताराम' अथवा 'नारायण' नाम अधिक प्रिय था ।

उनके जीवन में भक्त-प्रवर तुलाधार वैष्य की भी छाया थी । वे हृदय से बहुत ही सरल थे, परन्तु संसार के व्यवहार में अतिशय दक्ष थे । जब मैं आकाशचारिणी थी तभी मैंने उनको देखा था । उनका पवित्र प्रवचन सुनकर मैं सदा प्रफुल्लित होती थी ।

वे सदा अपने हाथ पिंजरे (श्रीपोद्दारजी के शरीर) पर रखे रहते थे । अर्थात् उन्हें भी यह पोद्दार महाराज का शरीर बहुत ही प्यारा था । और हे प्रियतम, उधर मेरे प्राणसर्वस्व नीलमणि तुम भी अपने मृदुल कर कमल इस श्रीपोद्दारमहाराज (भाईजी) के शरीर पर रखे थे, परन्तु तुम्हारी कर-छाया तो परमगुप्त थी और श्रीसेठजी गोयनकाजी का इस पिंजरे पर हाथ रखना प्रकट था ।

श्रीगोयन्दकाजी इतने बड़े सच्चे ज्ञानी थे कि उनकी अहंता अपने शरीर पर ही नहीं थी, उनकी अहंता तो सर्वथा-सर्वांश में परब्रह्म परमात्मा में एक हो गयी थी, इसीलिये वे 'अहं ब्रह्मास्मि' के एक निष्ठ अखंड अनुभवकर्त्ता थे, वे भला इस पिंजरे श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) पर भला क्या मोह करते, क्या अपना मानते परन्तु उनकी मुझ विहगी से विनोद करने की यह एक विलक्षण युक्ति भर थी ।२६।

इसके पश्चात् जो घटनाएँ सुरसरिता, गंगा तट पर हुईं अथवा रवितनय तपोवन में घटित हुई, वे सब इससे (श्रीपोद्दार महाराज (पिंजड़े) से) जुड़ने के पहले की हैं । परन्तु यदि मैं उन्हें कहना प्रारम्भ कर दूँ तो यह कथा बहुत ही लम्बी हो जायेगी और यहाँ इस कथा के ऐसे सुनने वाले भी नहीं हैं,

जिनमें इस कथा को सुनने का प्रेम हो और जो सुनकर सजल नेत्र हो उठें । इसलिये इस कथा को यहीं छोड़ दी है ।।२७।।

मेरी इच्छा इतनी ही थी कि सोलह गीतों में से श्री राधारानी के वचन रूप मात्र आठ गीत लेकर गा जाऊँ परन्तु जब यहाँ ऐसी ही लीला हो रही है तो यही उचित लगता है कि कुछ दिन और देखूँ कि कैसे क्या होता है । हे प्रियतम ! तुम तो सदा हँसते ही हो तो फिर मैं भी तुम्हारी रुचि में अपनी रुचि मिलाकर क्यों नहीं हँसूँ ।

अप्राकृतमन

(श्री द्वारकादास जी की कथा)(अ)

भगवान श्रीकृष्ण का रूप, उनकी आकृति, उनकी वाणी, उनके अंगों की गंध माया के कार्य पंचमहाभूतों से निर्मित सर्वथा नहीं हैं । वे सर्वथा अप्राकृत हैं । यदि वे प्राकृत होते तो मायातीत, गुणातीत, आत्माराम मुनिगण, भगवान् के सौन्दर्य, उनकी अंग गन्ध एवं उनकी चरणधूलि के लिये लालायित नहीं होते । प०पू० पोद्दार महाराज द्वारा चरण स्पर्श करके किये हुए शक्तिपात ने पू० गुरुदेव का मन, नेत्र, कर्ण एवं बुद्धि सब अप्राकृत कर दी थी । इसलिये पू० गुरुदेव अपने प्रियतम की रुचि के प्रतिबिम्ब ही बन गये थे । अप्राकृत तत्व की बात श्री पोद्दार महाराज "श्रीराधाजी कौन थी" नामक लेख में विस्तार से बता चुके हैं । पू० गुरुदेव तो स्पष्ट एक सन्त की कहानी ही सुनाया करते थे, जिनके शरीर में अप्राकृत मन उतर आया था । पू० गुरुदेव कहा करते थे कि भगवान् का अप्राकृत रूप अक्षय है । वह चिन्मय और सर्व प्रभावकारी है। उस अप्राकृत मन एवं वाणी का प्रभाव हिंस्र जीवों पर भी होता है । पू० गुरुदेव एक संत श्रीद्वारकादासजी की कथा सुनाया करते थे । उन दिनों हरिद्वार में घोर जंगल था और ये सन्त गंगा के किनारे पत्थरों पर पड़े रहा करते थे । वे सन्त गंगाजी में नहाते नहीं थे, फिर भी उनके पसीने में दुर्गन्ध नहीं होती थी । एक बार जंगल में जहाँ वे रहते थे एक बहेलिये ने पक्षियों को फँसाने के लिये जाल बिछाया । वह बहेलिया जंगल के पक्षियों को पकड़कर बेचा करता था । जाल बिछाकर उसने बहुत से पक्षी पकड़ लिये और उन्हें बेचने ले गया । ये सन्त बहुत दुखी हुए । अब उन्होने पक्षियों को

पढ़ाना-सिखाना प्रारम्भ किया । ये अपने अप्राकृत मन के प्रभाव से शुक, सारिका, वन-कपोत, वन-मयूरादि पक्षियों को बुला लेते।

सैकड़ों पक्षी सन्त द्वारकादासजी को घेर कर बैठ जाते थे। अब वे उन्हें बच्चों की तरह पाठशाला लगाकर पढ़ाते । वे सबको सिखाते । पहला पाठ था "बहेलिया आयेगा, बहेलिया आयेगा । दूसरा पाठ था - "जाल बिछायेगा - जाल बिछायेगा" उनका शिक्षण इतना सटीक था कि शुक, सारिकायें, मयूर अपनी वाणी में सर्वत्र जंगल में बोलने लग गये । उनका तीसरा पाठ था - "दाना डालेगा, दाना डालेगा ।"

चौथा पाठ था - "हम नहीं फँसेंगे, हम नहीं फँसेंगे ।"

जब दूसरी बार बहेलिया आया तो वह आश्चर्य-चकित हो गया । सभी पक्षी बहेलिया को देखते ही जोर से बोल उठे - बहेलिया आयेगा, बहेलिया आयेगा - फिर दूसरी बोली वे बोले - जाल बिछायेगा, जाल बिछायेगा - फिर तीसरा पाठ सभी पक्षियों न उच्चारित किया - दाना डालेगा, दाना डालेगा और तब वे सभी चौथा पाठ बोले - हम नहीं फँसेंगे । हम नहीं फँसेंगे ।

बहेलिया उन पक्षियों की बोली से इतना प्रभावित हो उठा कि सन्त महाराज को प्रणाम कर उस वन से बिना पक्षी पकड़े चला गया ।

पू० गुरुदेव इन्हीं सन्त की आगे की बात कहते थे । एक बार एक अंग्रेज ने वहाँ के जंगल में जहाँ ये सन्त द्वारकादासजी रहा करते थे, एक बाघ का शिकार कर दिया । शेरनी अपने नर के मारे जाने से बहुत दुखी हो गयी । वह इतनी प्रतिशोध से भर गयी कि किसी भी अंग्रेज गोरे को जंगल में देखते ही मारकर खा जाती । उन दिनों गोरे अंग्रेज जंगल में लकड़ी की ठेकेदारी का व्यापार करते थे ।

उनका आवागमन तो रहता ही था । शेरनी ने जब पाँच गोरी चमड़ी वालों का भक्षण कर लिया तो हाहाकार हो गया । एक अंग्रेज जो नामी शिकारी था, उस शेरनी को मारने को उद्यत हुआ । इधर तो वह अंग्रेज शेरनी को मारने को दाव-पेंच जोड़ रहा था, उधर शेरनी भी उसकी घात में थी । अंग्रेज उसे ढूँढने को ज्यों ही घोर जंगल में प्रवेश हुआ, पीछे से उस शेरनी ने झपट्टा मारा । परन्तु सन्त द्वारकादासजी दोनों के बीच में आ गये। द्वारकादासजी ने शेरनी का सीधे कान पकड़ा और उसे उपदेश देने लगे- "क्रोध थूक दे - सभी गोरी चमड़ीवाले हत्यारे नहीं होते । अब आगे से किसी भी अंग्रेज को मत मारना ।" वह अंग्रेज यह दृष्य देखकर चमत्कृत था।

उन्होने उस शिकारी को भी मना कर दिया कि आगे से यह शेरनी किसी भी अंग्रेज को नहीं मारेगी, तू भी इसका शिकार मत करना । वह शेरनी उस अंग्रेज के सामने ही महात्माजी की एक या दो परिक्रमा करके चली गयी ।

पू० गुरुदेव के अप्राकृत मन का लेखक द्वारा स्वयं अनुभव

पू० गुरुदेव का स्वयं का मन कैसा अप्राकृत था, इसका उदाहरण तो लेखक ने स्वयं देखा है । एक दिन पू० गुरुदेव जिस उपवन में दुपहरी में लेटते थे, उस उपवन में घोर किरायत (किंग कोबरा) सर्प निकला । उस सर्प के काटे जाने पर फिर प्राण बचाना असंभव होता है । अत: जैसे ही ग्रामीणों को, अथवा जनसमुदाय को इस सर्प की गंध भी मिलती है, इसे मारे बिना कोई नहीं छोड़ता । पू० गुरुदेव की दृष्टि इस सर्प पर ज्यों ही पड़ी, वह फन उठाकर खड़ा हो गया । पू० गुरुदेव इस महाविषैले सर्प की ओर थोड़ी देर प्यार भरी नजर से देखते रहे फिर उससे बोलने लगे - "हे प्रभो । आप अपने स्वरूप को भूले हुए हैं, परन्तु मैं तो आपको ठीक-ठीक सत्य पहचान रहा हूँ। प्रभो ! आप यह फूँ-फूँ करना छोड़ दीजिये । देखिये ! ज्योंही आपकी उपस्थिति की भनक यहाँ के मालियों को, नौकरों को मिली नहीं कि वे आपकी यह सारी अहंकार की फूँ-फूँ (हिकड़ी) डंडों की मार से शान्त कर देंगे। अत: मैं आपकी निर्मम मरणान्तक पीड़ा को बचाने के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ। मैं आपको यह रेखा खींचकर राह दिखा रहा हूँ - आप इस राह पर यदि चले चलेंगे तो आपका जीवन पूर्णतया सुरक्षित रहेगा और आपका बाल भी अभी तो बाँका नहीं होगा ।

यह कहकर पू० गुरुदेव उस कुण्डली मारे फन उठाये काले नाग के सम्मुख निर्भय चले गये । उन्होने एक लकडी से रेखा खींचनी प्रारंभ की और साँप देवता सर्वथा जैसे पालतू हों, चुपचाप पू० गुरुदेव के द्वारा खैंची रेखा के ऊपर चलते-चलते घोर जंगल में विलीन हो गये । यह घोर किरायत सर्प जो पास आये व्यक्ति को प्राय: उछलकर काटता है, एवं जो फन पटक-पटक कर अपना क्रोध व्यक्त कर रहा था उसका इस प्रकार अनुगत होकर पू० गुरुदेव के पीछे खींची रेखा पर अनुसरण करना एक चमत्कारिक घटना थी । और हम सभी ने सामूहिक रूप से इसका दर्शन किया है ।

तो कहने का इतना ही प्रयोजन है कि पू० गुरुदेव में पू० पोद्दार महाराज के द्वारा अप्राकृत तत्वावतरण किया गया । मैने (लेखक) तो पू० गुरुदेव के पहने वस्त्रों को भी अनेक बार इस आशा से सूँघा है कि ग्रीष्म ऋतु में पू० गुरुदेव के पसीने, (स्वेद) से भीगे वस्त्रों में भी दुर्गन्ध आती है या नहीं ? मुझे आश्चर्य होता था कि उनके वस्त्रों में अति दिव्य सुगन्ध व्याप्त रहती थी ।

पू० गुरुदेव स्पष्ट-स्पष्ट कहा करते थे कि श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाराज के पांचभौतिक ढाँचे के भीतर अब कोई भी अन्य अहंकार का धर्मी नहीं है, वहाँ सर्वथा एक ओर से दूसरी ओर तक दिव्य वृन्दावन राज्य ही है और श्री राधाकृष्ण का नित्यविहार है ।

एक दिवस जब पू० गुरुदेव यह बात मेरे मामाजी की उपस्थिति में मुझसे एवं अन्य व्यक्तियों को कह रहे थे तब मैंने उनसे निस्संकोच पूछ लिया - "बाबा ! आपके भीतर भी तो साक्षात् राधारानी ही क्रियाशील हैं" तो उन्होने स्पष्टतया स्वीकार किया । अपने पिछले दिनों में तो वे निस्संकोच सबके सम्मुख ही अपने को 'राधा' ही कहा करते थे । यह तो सर्व विदित तथ्य है।

अन्तर्दशा का चित्र

नियम हुतौ गुनदेह में महाभाव नहिं होन ।
मेरे हित पिय साँवरो सोऊ कीन्हौ गौन ।।

यह नियम है कि सत्व, रज, तम, मय त्रिगुणात्मक शरीर में महाभावात्मक चिन्मयस्थिति का अवतरण नहीं होता, परन्तु उन प्रियतम साँवर ने अपना नियम पू० गुरुदेव के लिये बदल दिया । प्रियतम श्यामसुन्दर ने वह कर दिखा दिया जिसे जगत् में असंभव माना जाता है । इतना ही नहीं प्रियतम प्राणवल्लभने पू० गुरुदेव के हाथों अपने स्वयं को सौंप दिया । यह पू० गुरुदेव के प्रति उनके प्यार की पराकाष्ठा थी । पू० गुरुदेव के हाथों में श्रीकृष्ण ने अपने को इतना अधिक सौंप दिया था कि वे भले उनका चाहे जैसे उपयोग करें, परन्तु पू० गुरुदेव ने अपने इस अधिकार का कभी भी दुरुपयोग नहीं किया ।

पू० गुरुदेव का वैचारिक दृष्टि से यह संक्रमण काल था । अद्वैत-सिद्धान्त की कट्टरता तो सर्वथा विदा ले ही चुकी थी । भगवान् की अहैतुकी कृपा पर

आस्था मन में हिलोरें ले रही थी । श्रीपोद्दार महाराज से प्रथम मिलन में ही पू० गुरुदेव को सगुण-साकार भगवान् मुरलीमनोहर के तो दर्शन हो ही चुके थे । परन्तु किसी के दर्शन हो जाने मात्र से उस पर पूर्णतया विश्वास नहीं जमता है । इन दिनों पू० गुरुदेव के हृदय में भगवान् के अकारण सौहार्द पर अनोखा विश्वास जगा । यह विश्वास पू० गुरुदेव के रोम-रोम में पूर्णतया समा गया । उनके मन में यह आस्था दृढ़ से दृढ़तर, दृढ़तम होती गयी कि भगवान् उनके लिये असंभव को भी संभव कर देंगे ।

यह विश्वास ही पू० गुरुदेव के चित्त में अगाध भगवत्प्रेम के रूप में परिणत हो गया । पू० गुरुदेव पुरुष थे, परन्तु उनका भावदेह स्त्री का हो गया था । पू० गुरुदेव अपने भावदेह से श्रीकृष्ण के निगूढ़ प्रेमपात्र बन गये थे। अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण के उन्हें निरन्तर दर्शन होते थे । उनके दर्शनों और प्रेम ने उनके जीवन का रूप ही बदल दिया था ।

वास्तव में कृपा का मार्ग सबसे सरल पथ है । कृपाश्रित का मार्ग इतनी शीघ्रतापूर्वक और इतनी सुगमता से तय होता है, मानो राकेट में बैठाकर उसे तुरन्त मंजिल पर पहुँचा दिया जावे । अपने पैरों से चलकर के उत्तुंग गिरिश्रृंगों को पार करना अति कठिन हैं, पर राकेट में बैठा हुआ व्यक्ति देखते ही देखते अत्यल्प समय में गिरिशिखर को पार कर जाता है । कृपाश्रित सर्वथा प्रभु पर निर्भर होता है । पू० गुरुदेव के जीवन के लक्ष्य थे, एक मात्र नीलसुन्दर । नीलसुन्दर के अतिरिक्त उनके जीवन में किसी अन्य को स्थान ही नहीं था । पू० गुरुदेव के श्रवणपुटों में उनके प्रियतम नीलसुन्दर ने अपनी मनोहारिणी गिरा भर दी थी, और उनके अधरों से निस्सृत स्वरों की भक्ति से उनका भावदेह बहुत ही कठिनाईपूर्वक अन्य कुछ सुन पाता था । वास्तव में जगत् के स्वरों के लिये उनके कान बहरे हो चुके थे ।

भगवान् श्रीकृष्ण कदम्ब-वृक्ष सहित अर्थात् चिन्मय वृन्दावन सहित उनके हृदय में नित्य विराजित थे । अतः उनके हृदय में प्रियतम नीलसुन्दर का संस्पर्श सतत समाया रहता था । उनके अंग-अंग में सदा एक अभिनव विलक्षण आनन्द छलकता रहता था ।

बात यह है कि एक स्थिति होती है महासत्व की, विशुद्ध सत्व की । इस स्थिति की मनीषियों ने केवल कल्पना ही नहीं की है, अपितु उस स्थिति का साक्षात्कार भी किया है । कितनी ही साधना की जाय और साधना के फलस्वरूप सतोगुण कितना ही प्रवृद्ध क्यों न हो जाये, परन्तु उस सतोगुण में

भी, भले किञ्चदंश में ही सही, रजोगुण-तमोगुण का सम्मिश्रण तो रहता ही है । तमोगुण-सतोगुण-रजोगुण तो प्रकृति के राज्य की वस्तु हैं किन्तु महासत्व तो त्रिगुण से परे, प्रकृति-राज्य से परे की स्थिति है । पू० गुरुदेव उन दिनों पू० पोद्दार महाराज की कृपा से महासत्व में, विशुद्ध सत्व में डूबे थे। वे अपने आन्तरिक भगवद् मिलनानन्द के सुख को व्यक्त नहीं कर सकते थे । वे अपने प्रियतम के परमसुखद मादक संस्पर्श का व्यवधान रहित अखण्ड अनुभव करते और मूकास्वादनवत् अस्वाद लेते रहते थे । महासत्व जिसे विशुद्ध सत्व भी कहा जाता है,. उसमें निमज्जित मन फिर प्राकृत मन नहीं रह जाता है। वह मन विलीन हो जाता है रसराज वृजेन्द्रनन्दन में ।

अत: वृजेन्द्रनन्दन की अनिन्द्य सुन्दर रूपराशि में उनके नेत्र सदा डूबे रहते थे । नयनों की काली पुतलियों में एक मात्र वे ही वे अहर्निश भरे रहते थे । उस त्रिभुवनमोहन रूप ने पू० गुरुदेव की बुद्धि का अध्यवसाय भी निमज्जित कर दिया था । एक अभिनव महारस-समुद्र में सब कुछ डूब गया था ।

कहाँ गयी उनकी वह ब्रह्मज्ञानी अहंता । कहीं अनुसंधान ही नहीं था उसका । उसके स्थान पर सर्वत्र सतत् विराजित थे, मात्र विश्व-विमोहन, व्रजजन-जीवन श्रीकृष्ण ।

(गीता कार्य एवं रस भावना जन्य विक्षेप)

पू० गुरुदेव की महारसमयी अन्तर्दशा को बाहर से तो कोई जान नहीं पाता था । श्रीजयदयालजी गोयन्दका, धर्मोद्धारक, सत्संग-प्रचारक, गीता-वक्ता, औपनिषद् तत्व-रहस्य के ज्ञाता थे, निष्काम-कर्मयोग की जीवन्त सचल प्रतिमा थे, परन्तु वे पू० गुरुदेव की एकान्तिक निरीह-प्रीति के पारखी सर्वथा नहीं थे। उन दिनों पू० गुरुदेव को श्रीसेठजी के साथ श्रीगीता तत्व-विवेचनी, गीता की टीका के कार्य में लगा रहना पड़ता था । पू० गुरुदेव गीता के विख्यात टीकाकारों की टीकायें जो प्राय: सभी देवभाषा संस्कृत में ही थीं, उनका हिन्दी अनुवाद करके श्रीसेठजी गोयनकाजी एवं उनकी सलाहकार मंडली के सम्मुख रख देते थे। इसके पश्चात् वे लोग निर्णय करते थे कि किस टीकाकार का कौनसा पक्ष उनकी दृष्टि में सर्वोत्तम अर्थ को प्रकाशित कर रहा है । अन्तिम निर्णय श्रीगोयनकाजी के विचारों से ही होता था ।

जब यह मंडली गंभीर दर्शनशास्त्र के पक्ष-प्रतिपक्ष पर विचार कर रही होती और पूरी उलझी हुई होती, उस समय रसघन मूर्ति श्रीकृष्ण, पू० गुरुदेव के सम्मुख आ जाते । अपने प्राणसार सर्वस्व जीवनधन को सम्मुख खड़ा देखकर पू० गुरुदेव हर्ष स्तंभित हो जाते । प्रेमिल चातक नवघनश्याम जलधर को उमड़ा हुआ देखकर आनन्द से निमग्न हो जाता । उनके भाग में जो कार्य होता वह तो वे अग्रिम ही आगे के अनेक श्लोकों का कर चुके होते, अत: वे पूर्ण संलग्न-चित्त उस अनिंद्य रूपसुधा का पान करने लगते । उमड़े नवघन मेघ से चतुर्दिक घिरा चातक भला चुप, शान्त कैसे रह पाता । यह कोई अखण्ड-शान्त, केवल-शान्त, अनन्त-शान्त, विशुद्ध-शान्त, निर्विकल्प-शान्त, घन-शान्त, कूटस्थ-शान्त ब्रह्म तो था नहीं, जो उन्हें निश्चल, स्थिरासन कर देता । यह तो उच्छलित आनन्द था । निर्विकारता तो इसके पास से भी नहीं बहती थी । इसमें आठ सात्विक महाविकार पूरे छलछलाते थे। और विकार तो विकार ही होते हैं । जब विकार उत्पन्न होते हैं तो उनका परिणाम शरीर पर प्रकट होगा ही । उसे भला कैसे रोका जा सकता है ? अत: पू० गुरुदेव अपनी सुरीली तान में गा उठते । गीताप्रेस से ही सम्पादित सूरदास, नन्ददास, गोविन्दस्वामी, तुलसीदास, कबीर, मीरा आदि के पद छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित हो चुके थे । इनमें से ही सुन्दर रसमय ये पद पू० गुरुदेव को कण्ठस्थ थे, अत: पू० गुरुदेव-रूप विहगी की सुरीली रसमय तान छिड़ जाती :-

मोहन मुखारविंद पर मन्मथ कोटि वारौं री माई ।
जहँ-जहँ अंगन दृष्टि परत तहँ-तहँ रहत लुभाई
अलक तिलक कुंडल कपोल छवि इक रसना मौपे बरनि न जाई
गोविन्द प्रभु की बानिक ऊपर बलि-बलि रसिक चूड़ामणि राई।

वृजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की प्रेमार्चना सौन्दर्य की उपासना ही होती है। इसमें प्रधानता होती है आनन्द-रसतत्व की ।

अष्ट छाप के विख्यात कवि श्रीपरमानन्द स्वामी की उक्ति है कि श्रीराधा मुखरूपी पूर्ण चन्द्रमा को देखकर श्रीकृष्ण का आनन्द रूपी सिन्धु बढ़ने लगा तथा ब्रजवृन्दावन की ओर उमड़ चला । इस रसप्रवाह को एक ओर तो यमुनाजी ने आत्मसात् कर लिया, दूसरी ओर बृजांगनाएँ इसे आस्वादन कर

गयीं । इनसे जो कुछ थोड़ा बहुत छलक गया वह कुछ-कुछ त्रिभुवन में भी बिखर गया । यह रस-रसिकों के कण्ठ में अटक रहा है । रसिक जन रसानन्द की अधिकता के कारण उसे अपने अन्दर पचा नहीं पा रहे हैं और अधिकारी को नहीं पाकर उसे व्यक्त भी नहीं कर पा रहे हैं । हाँ, दो व्यक्ति तो इस रस से सर्वथा वंचित रह गये । एक तो वे जो साधना के अभिमानी कर्मकाण्डी थे, और दूसरे वे जिनको ज्ञानाभिमान था । कर्मी और ज्ञानी इस रस को (स्पर्श) छू भी नहीं सके।

तो उस रस का कणिकांश पू० गुरुदेव के हृदय में महारसिक श्रीपोद्दार महाराज ने बीजारोपित किया था । पू० गुरुदेव उस रसप्रवाह में क्षण-प्रतिक्षण उछल-उछलकर निमज्जित हो रहे थे । अब श्रीजयदयालजी गोयनका सेठजी की यह ज्ञानी मंडली उस रस को कैसे पहचाने ।

अपने भावदेह से मुकुन्द मधु-माधवी, कृष्णकान्ता शिरोमणि बने प० पू० गुरुदेव के नयनों की काली पुतरियों में निजभावद्युति-सुवलित-तनु श्रीकृष्ण रसराज का कैसा लोकातीत चिन्मयरूप प्रतिबिंबित हो रहा है और पू० गुरुदेव उसमें कैसे मस्त हो रहे हैं, यह प्रेम पाठशाला में प्रवेश ही नहीं पायी हुई मंडली भला कैसे जान पाती ।

हाँ, कहीं रसिकशेखर श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाराज इस मंडली में होते तो वे अवश्य अनुभव कर सकते थे कि कितनी गंभीर और सर्वथा-सर्वांश में स्वसंवेद्य विद्या है यह । साथ ही कितना अभिनव आकर्षण है इसमें ।

श्रीगोयन्दकाजी की "नहिं परस्यौ कर्मठ अरू ज्ञानी" मंडली प० पू० गुरुदेव के गायन पर झुँझला जाती । शास्त्रों एवं वेदान्त के गंभीर अर्थविचार में रत इन सभी को पू० गुरुदेव का गायन हलका-फुलका, चपल बालवत् स्वभाव प्रतीत होता । वे सभी मन ही मन अति क्षुब्ध हो जाते । पू० गुरुदेव उनकी झुंझलाहट का मन ही मन यही उत्तर देते - "भाईयों ! आप सभी अत्यंत बुद्धिमान हो सकते हो । ज्ञान-गरिमा के आलोक में आप लोगों ने व्रजकुल चन्द्रमा श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में क्या अवधारणायें कर रखी हैं, इसे आप लोग ही जानें । मैं सत्य-सत्य शपथपूर्वक कहता हूँ, एक बार मेरी बात मानकर सारे ज्ञानाग्रहों, तत्वों की उधेड़बुन को परे करके इस गीतावक्ता के नीलमणि एवं सरसिजवत् श्रीअंगों को देख तो लो । अहा ! इस रस-समुद्र के श्रीअंगों से विविध मनोहारी रंगों की कैसी दिव्यज्योति सर्वत्र विकसित हो रही है, कैसी चिन्मय अलौकिक रससुधा का सर्वत्र संचार कर रही है यह । इसे

निरवधि निहारते रहने पर भी क्या नयन तृप्त हो सकते हैं ? कदापि नहीं । बस, एक बार इन नयनों को इस रूप की एक हलकी सी भी झाँकी हो गयी तो नेत्र नित्य तरसते ही रहेंगे, पुनः पुनः दर्शन के लिये, क्षण-क्षण व्याकुल होकर तड़पते रहेंगे निरन्तर देखने के लिये।"

"हाय ! हत भाग्य !! आप सभी को उनकी छटा के दर्शन हुए नहीं, यदि तनिक सी भी झलक मिल जाती तो - फिर तो क्षण भर भी उस बंकिम छटा को देखे बिना आप सब नहीं रह पाते । फिर तो मेरी ही तरह गाते, प्रलाप करते फिरते ।"

पू० गुरुदेव उस मंडली का जानकर तो स्वाद बिगाड़ना चाहते नहीं थे । वे तो यही अनुभव करते थे कि अनादि अवतारी शेषशायी भगवान् नारायण ही श्रीजयदयाल गोयनका के पार्थिव देह को यंत्र बनाकर जगत् का अशेष हित, कल्याण करने के लिये इस भगवद्गीता की टीका का कार्य कर रहे हैं । उनकी मंडली भी शुद्धान्तःकरणसम्पन्न, पूर्ण चरित्रवान् भगवद् पार्षदों की ही टोली है । ये सभी उच्च-कोटि के संयमी, तत्वनिष्ठ, साधु हृदय हैं । अतः वे उनके गंभीर विचार-मंथन में विक्षेप प्रस्तुत करना कदापि नहीं चाहते थे । वे अपने प्राणवल्लभ से प्रार्थना करते -

मुरहर रन्धन समये मा कुरु मुरली रव मधुरम् ।
नीर समेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम् ।।

"हे मुरारे ! मेरे रसोई बनाते समय तो कृपा करके अपनी मुरली की मधुर तान मत छेड़ा करो, क्योंकि उस ध्वनि के आते ही मेरी सूखी लकड़ियाँ हरी हो जाती हैं, और मेरी रसोई ही नहीं बन पाती ।" पू० गुरुदेव का भाव यही होता कि दयाकर इस शास्त्रार्थ के समय तो अपनी मादक छटा मत दिखाया करो, जिससे मेरी मन-बुद्धि बहक जाय और मैं अवश इनके परम गंभीर शास्त्र-विवेचन के कार्य में विक्षेप करता हुआ गायन कर बैठूँ ।"

परन्तु श्रीकृष्ण तो "परम-स्वतंत्र न सिर पर कोऊ" उनकी बात मानें ही - ऐसा आवश्यक तो था नहीं ।

एक दिवस यह मंडली **"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय"** श्लोक के गूढ़ विचार-मंथन में उलझी हुई थी । पू० गुरुदेव दत्तचित्त थे अपने नीलसुन्दर में । उनकी भावधारा बह रही थी अपने भाव राज्य में ।

बस, वे पीलू राग में गुन-गुना उठे । पीलू राग उन्हें वैसा ही अधिकतम प्रिय था जैसा नरसीभगत को केदारा राग । पू० गुरुदेव का कण्ठ अतिशय मधुर था । उनकी स्वरलहरी उन गंभीर विचारकों को विक्षेप कर ही बैठी ।

बिनु देखे मन मान न मेरो ।
श्याम बरन मन हरन लाड़िलो, रूप सुधानिधि जगत उजेरो ।
चाल मराल मनोहर बोलनि, नैकुचितै मोतन हँसि हेरो ।
नारायण सब जग को ठाकुर, श्रीवृषभानु किसोरी को चेरो ।

उस दिवस पू० गुरुदेव अपने भाव-संसार में देह-ज्ञान विस्मृत हुए इस प्रकार मस्त होकर गा रहे थे कि यह मंडली स्तब्ध होकर सुनने लगी । फिर श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका एकदम नाराज हो उठे । उन्होने श्रीसेठजी जयदयालजी से जो उनके बड़े भाई थे कहा - "काम बन्द कर दीजिए और बस, इन स्वामीजी का गायन ही सुना करिये ।"

इधर श्रीहरिकृष्णदासजी क्रुद्ध हो रहे थे और उधर पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके श्रीकृष्ण की मानस-मूर्त्ति भी अपने नेत्रों में किञ्चित् रोष जनित लालिमा प्रकट कर रही थी । पू० गुरुदेव ने उसी क्षण अपनी आन देकर श्रीकृष्ण को शान्त किया । अन्यथा श्रीहरिकृष्णदासजी को उनके क्रोध का दंड मिल ही जाता और पू० गुरुदेव का भाव-गायन एक अप्रिय प्रसंग का हेतु बन जाता ।

इतने में ही पू० पोद्दार महाराज न जाने कैसे उस मंडली के मध्य आ गये । उन्होंने पू० गुरुदेव को समझाया कि वे टीका कार्य सम्पन्न करने के पश्चात् नाम-जप किया करें । और पू० गुरुदेव का नाम-जप प्रारम्भ हो गया।

पू० गुरुदेव ने अपने प्रियतम काव्य में कहा है -

"उनका था वह संसार अलग वे थे भूले उसमें प्रियतम ।
है कौन यहाँ बाला बसती वे क्या कैसे जानें प्रियतम ।।

श्रीपोद्दार महाराज (भाईजी) अवश्य ही पू० गुरुदेव के हृदयगत भावों के पारखी थे, परन्तु वे विवश थे । उन्होने ही पू० गुरुदेव के ब्रह्ममहल में आग लगायी थी और जब वह पूर्ण ध्वस्त हो चुका था और उसके ध्वंसावशेष में

जब प्रीतिबेलि लग रही थी तो वे उसके सुरभित पुष्पों की गन्ध सूँघने तथा मकरन्द का आस्वादन करने वाले भ्रमर के समान पू० गुरुदेव को कभी-कभी टटोलते थे परन्तु रहते थे, सर्वथा अनजाने, अनभिज्ञवत् सर्वथा तटस्थ ।

गीताप्रेस के कमरे में विलक्षण दर्शन

जो हो, फिर परिच्छेद मधुमय आया जिसमें तुमने प्रियतम !
माया भी रची चित्रपट के होंठों की ओर लिये प्रियतम !
'प्रगट्यो ग्वालिनी नेह पूरन' पद का अन्तस्तल में प्रियतम !
नयनों में और अहंता में था राग लगा छिड़ने प्रियतम !

(चौपाये का अर्थ)

जो हो फिर हे प्रियतम ! वह मधुमय परिच्छेद आया जिसमें तुमने चित्रपट के होठों की ओट लेकर मेरे नयनों में और अहंता में, साथ ही ग्वालिनी पूरण प्रकट्यो नेह पद की लीला का मेरे अन्तस्तल में राग छेड़ना प्रारम्भ कर दिया ।

सन् १९३७ ई० की घटना है । श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका के साथ पू० गुरुदेव गीताप्रेस में ठहरे थे । सेठजी ने पू० गुरुदेव को जिस कमरे में ठहराया था, वह वही कमरा था जिसमें श्रीपोद्दार महाराज की पुत्री सावित्रीबाई का जन्म हुआ था । आसन पर बैठे पू० गुरुदेव अपने उपास्य के चित्रपट का एकटक दर्शन कर रहे थे । यह चित्र यहाँ दिया गया है ।

चित्रपट का एकटक दर्शन करना पू० गुरुदेव का नित्य का नियम था। सहसा इस चित्रपट के होठों में चिन्मयता प्रकट होने लगी । होठों का अणु-अणु, कण-कण अलौकिक दिव्यता से परिपूर्ण हो गया । फिर यह चित्रपट ही जीवन्त हो गया इस चित्रपट के परिवर्तन के साथ ही दूसरा परिवर्तन पू० गुरुदेव के शरीर में हुआ ।

पू० गुरुदेव के अंगों-अंगों में विलक्षण कमनीयता का समावेश हो गया । वे चित्तहारी सुन्दर श्रृंगार से सुसज्जित हो उठे । उनका मुख पूर्ण विकसित अरविन्द के सदृश शोभा पा रहा था । सौरभ का पुञ्ज पू० गुरुदेव के अणु-अणु से स्फुटित हो रहा था । उनके प्रफुल्ल मुखसरोज में अभिनव अमृत

के सदृश मधुर-मधु परिपूरित था । उनके इस प्रफुल्लित मुख सरसिज का दर्शन कर रहे थे चिन्मय वपु वनमाली पू० गुरुदेव के प्राणांराम । प्रियतम के लोचन चंचरीक पू० गुरुदेव के आनन-सरोज पर मतवाले थे । न जाने कितने युगों-युगों से मानो वे चरम उत्कण्ठा लेकर इस मुख-सरोज के मधुपान में ही अविराम संलग्न रहे हों । फिर भी इनकी मधुपान लालसा प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही थी । ये मधु-लोलुप मानो क्षणभर के लिये भी तृप्त होना जानते ही नहीं थे । अपितु यह उनकी मधुपान की लालसा क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही थी ।

उनके (पू० गुरुदेव के) आनन-सरोज पर मँडराते नेत्र मानो अति प्रीति भरी मूक वाणी बोल रहे थे :- "हे रस-रास-विलासिनि ! मुझ त्रिभुवनमोहन के मन में भी निर्मलतम अलौकिक मोह का सृजन करने वाली !! मेरी प्राणेश्वरी !!! अनाविल सुख की सार स्वरूपिणि परमानन्द उत्सरूपे !!!!! प्राणेश्वरी, तुम ही मेरी एक मात्र जीवन की जीवन अवलंबनरूपा हो ।

पू० गुरुदेव की मुग्ध दृष्टि अपने प्रियतम के मुख पर गड़ गयी थी । अहा ! उनके बिम्ब विडम्बी अधर कितने मधुमय एवं सुधारस से भरपूर थे । उनके अरुणिम गोल कपोल कैसी विलक्षण कमनीयता का प्रकाश कर रहे थे । विविध दिव्य-रत्नों की ज्योति उद्‌भासित कर रही थी, उनके सुन्दर कर्ण कुण्डलों को । प्राणप्रियतम के आकर्ण विलम्बी, अत्यन्त चित्ताकर्षक नयनों में एक अभिनव मनोरम कौटिल्य नाच रहा था । कृष्ण कज्जल से अनुरञ्जित रहने पर भी इनके अन्तराल से एक अनुपम रसमयता, रसिकता, बार-बार निखर उठती थी । फिर नयन-सरोजों पर राजित बंकिम भ्रूविलास कोटि-कोटि कन्दर्पों के शर-संधान को भी हेय तुच्छ बना दे रहा था । काम शर से विद्ध तो कोई योगी, महर्षि, कदाचित् त्राण भी पा जाय, परन्तु इस भ्रकुटि विलास की गरिमा, इसकी सम्मोहिनी शक्ति से प्रतिहत कोई इन चरणों का निरवधि दास नहीं हो जाय, असंभव, सर्वथा असंभव था । पू० गुरुदेव के परम चंचल नेत्र स्थिर थे, अपने प्रियतम का मुख सौन्दर्य निहारते हुए। पू० गुरुदेव पूर्णतया निमग्न हो चुके थे, इस रूप-लावण्य के महावेगशाली प्रवाह में।

पू० गुरुदेव की परिणति परम सुन्दर किशोरी के रूप में हो गयी थी । आयु लगभग चौदह वर्ष कुछ माह की थी । पू० गुरुदेव के सारे अंग संस्थान बदल चुके थे । उन्हें सर्वथा विस्मृत हो गया कि वे सन्यासी हैं, अथवा पुरुष

देह हैं । आज तक जितनी कलाएँ सृष्ट हुई हैं, हुई थीं और आगे भी जिनके होने की संभावना हो सकती है, वे सभी कलायें मूर्तिमती होकर पू० गुरुदेव के भावदेह की शोभा बढ़ा रही थीं । सर्वगुणगणों के वे निधान थे ।

पू० गुरुदेव की भावदेह की परम मनोहारिणी, सुचिक्कण, कृष्ण मिलिन्द सदृश आभावाली कुञ्चित केशराशि, इस केशकलाप से निर्मित वेणी, इस वेणी में अतीव रमणीय सुरभित सुमनों का गुम्फन, कैसी अप्रतिम सुषमा का विस्तार कर रहा था, कोई क्या कहे । मणिमय चन्द्रिका की द्युति, मुखारविन्द की नित्य नूतन परिवर्धमान रूप-गरिमा - क्या इसे साक्षात् सरस्वती भी निर्वचन करना चाहे तो कर सकेगी ? सर्वथा असंभव है । उतुंग वक्ष कंचुकी परिशोभित था, श्याम चूनरी से मस्तक आवृत था । चारु चिबुक, शंख सदृश सुघड़ कण्ठदेश और उसमें झूलते सुरम्य सुमनों के, मुक्तावलियों के, मणिश्रेणियों के, एवं वज्रखचित स्वर्ण के विविध हार थे । त्रिवली राजित लघु उदर, गंभीर नाभि, मेखला मण्डित अतिशय सुन्दर कृश कटिदेश, प्राणों का मंथन कर रहा था । अरुण कर, पद-पल्लवों पर मेंहदी की रचना परम सुललित थी ।

ऐसी श्रीकृष्ण-सुखजीवना, श्रीकृष्ण-प्राणा, श्रीकृष्ण-परिनिष्ठित-मति अपनी भावदेह और अपने प्रियतम श्रीकृष्ण में उठती प्रीति तरंगों का अनुभव करते हुए गुरुदेव न जाने कितने कालतक सर्वथा वेसुध बाह्यज्ञान शून्य पड़े रहे ।

पूं० गुरुदेव के सामने जो दिव्यातिदिव्य दृश्य प्रकट हुआ उसे देखने के पश्चात् बहुत काल तक पू० गुरुदेव की विचित्र स्थिति रही । ऐसा लगता था मानों किसी ने उन्हें चार-पाँच बोतल शराब पिला दी हो । पू० गुरुदेव कहा करते थे कि जिस दिन गीताप्रेस के कमरे में वह दिव्य दर्शन मुझे हुआ, उस दिवस के पश्चात् फिर कभी मैं अपनी काया में रहकर भी अपनी काया में नहीं रहा । एक दिवस, इस स्थिति को समझाने के लिये उन्होंने एक साँप की केंचुली मँगायी । वे उस केंचुली को दिखाकर समझा रहे थे । उस सत्संग में मेरे मामा पू० चिम्मनलालजी गोस्वामी भी थे । वे साँप की केचुंली में मुख, आँख आदि सभी चिन्ह दिखला रहे थे और कह रहे थे कि देखो, आकृति सर्वथा साँप की है, परन्तु यहाँ साँप नहीं है । इसी प्रकार भगवान् की प्राप्ति के पश्चात् जीव अपनी काया में रहता हुआ भी नहीं रहता। वह जीव काया में रहता है, इस अर्थ में कि जीव भगवान् में डूबकर भगवान् से एक हो जाता है और भगवान् उस देह में रहते हैं, अत: जीव भगवान के संबंध से रहता

भी है, और नहीं भी रहता इस अर्थ में क्योंकि वह तो सर्वथा भगवान् में जागा हुआ देह-ज्ञान को ही भूल चुका है। उसे अपने देह की नामरूप की आत्यंतिक विस्मृति हो जाती है, अत: वह देह में सर्वथा नहीं भी रहता । वह वही होकर भी वही नहीं रहता । जो सरोवर सरिता के आप्लावन के कारण सरिता में विलीन हो गया है, फिर उस सरोवर का रूप, संज्ञा, उसका जल का स्वाद, उसके जल की गंभीरता सब पहले वाली रह ही नहीं पाती । उसकी सब संज्ञा बदल जाती है ।

नाम जप का प्रारंभ

पू० पोद्दार महाराज के द्वारा कृपा किये जाने के पश्चात् एवं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पू० पोद्दार महाराज का माहात्म्य सुनने के पश्चात् पू० गुरुदेव जैसे ही उन्हें गीता की टीका के कार्य से अवकाश मिलता, पोद्दार महाराज के पास गीता वाटिका चले आया करते थे । श्रीसेठजी के पास तो और भी अनेक कार्य रहते थे अत: उनके दूसरे कार्य जब भी अधिक आवश्यक हो जाते थे, तब गीता कार्य स्थगित हो जाया करता था । उस दिवस पू० गुरुदेव श्रीसेठजी से पूछकर वाटिका चले आते थे ।

गीतावाटिका में उन दिनों बहुत ही उत्तम व्यक्तियों का समावेश था । स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज तब श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी के नाम से गीतावाटिका में ही रहते थे । श्रीसनातनदेवजी भी श्रीमुन्निलाल के नाम से बहुत ही विद्वान एवं अच्छे साधक थे । श्रीद्विवेदी जी के साथ पू० गुरुदेव की बहुत ही आत्मीयता थी । वे पम्प चला-चलाकर पू० गुरुदेव को स्नान कराया करते थे । श्रीद्विवेदीजी श्रीमद्भागवत के मूर्धन्य विद्वान थे, और श्रीमद्भागवत की कथा कहा करते थे । एक दिवस पू० गुरुदेव पू० श्रीपोद्दार महाराज के पास बैठे थे । द्विवेदीजी भी साथ ही थे । बात चली नापजप की । पू० श्रीपोद्दार महाराज ने गीता की टीका कार्य के पश्चात् नामजप करने की राय उन्हें श्रीघनश्यामदासजी जालान के घर में भी दी थी, जिसे हम पिछले अध्याय में उल्लेख कर चुके हैं । उस दिवस श्रीपोद्दार महाराज नामजप एवं भजन पर बहुत ही अधिक आग्रह करने लगे । पू० गुरुदेव के मन में तो पोद्दार महाराज के तनिक से संकेत का भी बहुत महत्व था । श्रीद्विवेदीजी नापजप की अपेक्षा मंत्र-जाप पर अधिक निष्ठा रखते थे । अत: वे '**ॐ नमो भगवते**

रसों का समूल नाश कर देता है । फिर बचता है मात्र भगवद्रस, भगवन्नाम रस । बस थोडी सी देर नाम लिया नहीं कि चित्तवृत्ति बाह्यजगत को देखना, सुनना, स्पर्श करना भी छोड देती है और मन विलक्षण दिव्यातिदिव्य परमार्थ राज्य की गहराइयों में उतर जाता है । तब नामजप हुआ, ऐसा समझना चाहिए । जब भी नामजप अतिशय प्रिय लगने लगता है तो मन में भावोद्वेलन होने लगता है उस समय संख्या पूरी करना कठिन हो जाता है ।

जो भी हरिनाम लेते हैं, सुनते हैं, कीर्त्तन करते हैं, कीर्त्तन कराते हैं उन्हें इस सबका क्या फल मिलेगा, इसकी जानकारी उन्हें आज भले ही नहीं हो, परन्तु भविष्य में अवश्य होगी ही । नाम, गुण-संकीर्तन परमात्म-राज्य में स्थित कर देने का अमोघ उपाय है ।

तीन पदों की लीलाओं का साक्षात्कार

भावमयी साधना के क्षेत्र में संगीत का स्थान अतिशय महत्वपूर्ण है । संगीत गान एवं श्रवण से स्वभावत: ही भाव बहुत ही अधिक संचरित होने लगते हैं । पू० गुरुदेव को यदि कोई भावुक व्यक्ति सिद्ध भक्तों द्वारा रचित पद गायन सुनाया करता था तो उस पद गायन के पीछे जो भी उस सिद्ध सन्त द्वारा अनुभूत लीला होती थी, वह उनके सम्मुख ज्यों-की-त्यों प्रकट हो जाती थीं । पू० गुरुदेव भगवद् अनुभूति के आधार पर रचित साहित्य को ही श्रेष्ठ साहित्य मानते थे । वे अनुभूति विहीन साहित्य को तो थोथा, मात्र शाब्दिक जाल मानते थे । यह यथार्थ ही है कि कल्पना के आधार पर लिखा गया लीला-प्रसंग और अनुभूत संत द्वारा वर्णन किया लीला-प्रसंग एक समान संवेदनशील तो होना असंभव ही है ।

जिस महासिद्ध प्रेमी सन्त का मानस-बिन्दु अपने प्रेमास्पद प्रभु की लीलाओं में विलय को प्राप्त हो चुका है, उस प्रेमी के मन का प्रेमास्पद से अलगाव कैसे संभव है ? उस प्रेमी के मन में एवं उसके प्रेमास्पद में अभेद एकत्व हो जाता है । तब उसका मन ही भगवद्लीला बन जाता है । उस प्रेमी को लीलाराज्य के जिन प्रसंगों के दर्शन होते हैं, उसे जो-जो दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं, उन अनुभवों से स्वयं उद्भूत जो वाणी अथवा वैसे सन्त द्वारा रचित काव्य, यथार्थत: उस लीला को किसी भी शुद्धान्त:करण में उतार देने का कार्य करने वाला अमोघ मंत्र ही होता है ।

और उन वाणियों को पदों को गायन करने वाला अथवा पाठ करने वाला, करने वाली यदि शुद्ध अन्तःकरण नहीं है तो निश्चय ही कालान्तर में वह शुद्ध अन्तःकरण होकर उस लीला को अपने में उतार लेने का पात्र हो ही जाता है।

इस सिद्धान्त पर पू० गुरुदेव का तब पूरा-पूरा विश्वास जमा जब एक दिन वे गीतावाटिका में श्री पोद्दार महाराज के सत्संग में सम्मिलित हुए थे ।

पू० गुरुदेव कहते थे कि मुझे पू० श्रीपोद्दार महाराज की सन्निधि मात्र से बहुत ही अलभ्य वस्तुएँ मिल जाती थीं । संसार भले ही श्रीपोद्दार महाराज को थुल-थुल शरीर वाला मारवाड़ी बनिया देखता हो, मेरे लिये तो वे साक्षात् श्रीकृष्ण ही थे । वरं यह कहना अनुचित नहीं होगा कि वे श्रीकृष्ण का गोपनीय से गोपनीय तत्व-रहस्य प्रकट करने वाले साक्षात् कृपामूर्त्ति ही थे ।

श्रीपोद्दार महाराज के सत्संग के पूर्व गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी कोई भी सूरदासजी, तुलसीदासजी आदि महासिद्ध भक्तों का एक पद सुनाया करते थे । उस दिवस उन्होंने सूरदासजी का निम्न पद सुनाया ।

ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेहु ।
दधि भाजन सिर पर धर्‌यौ (हो) कहत गुपालहि लेहु ।।१।।
कौन सुनै का सौं कहौं (हो) काके सुरत-सँकोच ।
काको डर पथ अपथ को (हो) को उत्तम, को पोच ।।२।।
हाट बाट प्रिय पुर-गली (हो) जहाँ-तहाँ हरिनाम ।
समुझाएँ समुझै नहीं (हो) वाहि सिख दै वियक्यौ ग्राम ।।३।।
पान किये जस बारुनी (हो) मुख भलकत तन न सँभार ।
पग डगमग इत-उत धरै (हो) बिथुरी अलक लिलार ।।४।।
दीपक ज्यौं मन्दिर बरै (हो) बाहर लखै न कोय ।
तृन परसत प्रजुलित भयो(हो)(अब) गुपुत कौन विधि होय।५।
सरिता निकट तड़ाग के (हो) दीनो कूल बिदारि ।
नाम मिट्यौ सरिता भई (अब) कौन निबेरै बारि ।।६।।
लज्जा तरल तरंगिणी (हो) गुरुजन गहरी धार ।
दोउ कुल कूल परिमिति नहीं(हो)वाहि तरत न लागी बार।।७।।
विधि भाजन ओछो रच्यौ (हो) लीला सिन्धु अपार ।
उलटि मगन तामै भयौ (हो) अब कौन निकासन हार ।।८।।

चित आकरष्यौ नंद के (हो) मुरली मधुर बजाय ।
जेहि लज्जा जग लाजयौ (हो) सो लज्जा गयी लजाय ।।९।।
प्रेम मगन ग्वालिनि भई (हो) सूरदास प्रभु संग ।
श्रवण नयन मुख नासिका (हो) कंचुकि तजत भुजंग ।।१०।।

पू० गुरुदेव कहते थे कि गोस्वामीजी का हृदय अत्यंत भावमय था। उनकी एक-एक शब्दावली ने मेरे सम्मुख इस पद में निहित लीला को प्रत्यक्ष कर दी थी । उस दिन मुझे सर्वप्रथम श्रीकृष्ण ने परिचय कराया कि सूरदास, तुलसीदास आदि के अधिकांश पद मात्र तुकबन्दियाँ नहीं हैं, ये तो जाग्रत मूर्त्तिमान सिद्ध-मंत्र हैं । बाद में अनेक वर्षों पश्चात् पू० गुरुदेव ने इस लीला को जो उन्हें अनुभूत हुई थी 'सत्संग सुधा' परिपत्र के वार्षिक अंक में राधष्टमी के अवसर पर सम्मान्या सावित्रीबाई फोगला को लिखा दी थी । सम्मान्या सावित्रीबाई से पूछने पर पता चला कि जब पू० गुरुदेव उस पद की व्याख्या लिखा रहे थे, उस समय उनकी विचित्र स्थिति थी । वे जैसे किसी दृश्य को देखकर बोल रहे हों इस प्रकार बोलते थे, परन्तु तुरन्त ही उस भाव में डूब जाते थे । सम्मान्या बाई उन्हें बार-बार सावधान करती थीं । बार-बार स्मरण दिलाती थीं, जिससे कि वे उस वर्णन को भली प्रकार लिखा सकें ।

यह बात यथार्थ है कि प्राकृत मन से अप्राकृत वस्तु का दिखाई पड़ना असंभव है । इस माया-जगत् की उत्पत्ति शरीर, मन एवं इन्द्रियों की गति मायातीत राज्य में होनी तो ठीक इसी प्रकार है जैसे रात्रि का दिन में होना । माया-जगत् के शब्द,स्पर्श,रूप,रस,गंध मायातीत जगत के शब्द, स्पर्श से सर्वथा भिन्न हैं । माया जगत की इन्द्रियों से तो वे सर्वथा अग्राह्य हैं ।

यह लीला जो पू० गुरुदेव के सम्मुख व्यक्त प्रकट हुई वह तो अप्राकृत जगत् के पात्र गोपी में घटित हुई थी । उसका पू० गुरुदेव के प्राकृत नेत्रों के सम्मुख प्रकट होना तो एक असंभव सा आश्चर्य ही था । यह पुरुषार्थ द्वारा तो सर्वथा साध्य नहीं था । यह तो श्रीपोद्दार महाराज अथवा भगवान् की पू० गुरुदेव पर अपार हेतुरहित उदारता ही थी ।

यथार्थत: कृपा मार्ग ही सबसे सरल साधन है । कृपाश्रित का संपूर्ण भार कृपासागर पर रहता है । कृपा सागर संत अथवा भगवान् दोनों एक ही तत्व

हैं, वे उसकी सब बात बना देते हैं। पू० गुरुदेव का जीवन इसका मूर्त्तिमान उदाहरण ही था ।

सरिता के जलप्रवाह में धारा के उलटे मछली आसानी से तैर जाती है, परन्तु हाथी नहीं तैर पाता । मछली सरिता के आश्रित होती है अत: उसे किसी भी प्रकार के आयास की अनुभूति नहीं होती । उसी प्रकार कृपाश्रित व्यक्ति का संपूर्ण कार्य भगवत्कृपा से अनायास ही हो जाता है, मानो वह पथ से नहीं, राकेट अथवा हवाई मार्ग से यात्रा कर रहा हो । स्वयं परिश्रम अथवा पुरुषार्थ करने वाला लक्ष्य तक पहुँच पायेगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता । कृपाश्रित के लिये लक्ष्य सुलभ है, सुगम्य है, सुप्राप्य है ।

पू० गुरुदेव को इस 'ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेह' पद के अतिरिक्त उन्हीं दिनों दो और पदों में निहित लीला के भी दर्शन हुए थे । उसमें एक पद है-

कब की मह्यौ लियें सिर डोलै ।
झूठे हि इत उत फिर फिर आवत, यहाँ आय यह बोलै ।
मुँह लौं भरी मथनिया तेरी, तोहि रटत भई साँझ ।
जानति हौ गोरस को लेबो, याही बाखर माँझ ।
इत तौ आय बात सुनि मेरी, कहें बिलग जिन मानै ।
तेरे घर में तुही सयानी, और बेचि नहिं जानै ।
भ्रमतहि भ्रमत भरमि गई ग्वालिनि, विकल भई बेहाल ।
सूरदास प्रभु अन्तरयामी आइ मिले तत्काल ।।

इसमें भी निहित लीला पू० गुरुदेव ने सत्संग सुधा के वार्षिक अंक राधाष्टमी परिपत्र में लिखाई थी । ये दोनों लीलाएँ पश्चात् 'चलोरी आज ब्रजराज मुख निरखिये' नामक पुस्तक में छप चुकी हैं ।

तीसरा पद है :-

नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर ।
नंद नंदन अछत कैसे आनिये हिय और ।
चलत चितवत उठत जागत सुपन सोवत रात ।
हृदय तैं यह श्याम मूरति छिन न इत उत जात ।
कहत कथा अनेक ऊधौ लोक लाज दिखात ।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समात ।
स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ।

इस तृतीय पद की व्याख्या पू० गुरुदेव ने "प्रेम सत्संग सुधा माला" नामक पुस्तक में दी है । पाठकों के मननार्थ ये लीलाएँ यहाँ भी उद्धृत की जा रही हैं ।

ग्वालिनि प्रकट्यौ पूरण नेह' पद की लीला

देखो ! देखो !! देखो !!! देखो !!!! अरे एक बड़ी ही सुन्दरी गोपी आयी है। उसके सिर पर दही का मटका है । लँहगा पहने है । अरुण कंचुकी है उसकी । ओढ़नी सिर पर दही का मटका लिये रहने के कारण - सिर से चिपकी पड़ी है । ओढ़नी के दोनो छोर मन्द समीर के झोंके में किञ्चित् हिल रहे हैं । किन्तु सर्वथा उन्मादिनी है यह गोपी ।

दधि भाजन सिर पर धर्यौ कहत गोपालहि लेहु

अहा ! हाँ !! कितना सुन्दर नन्दग्राम का दृश्य है । उसके राज पथ पर यह गोपी दौड़ रही है । यह लो ! मटका सिर से गिर गया । गोपी को कोई भान नहीं मटका फूटने का, दही के गिर जाने का । दही बेचने आई हूँ , यह भी भूल गयी है वह ! बस पुकार रही है - गोपाल लो । गोपाल ले लो !! गोपाल लो !!! गोपाल लेलो !!!! गोपाल लो ।

कौन सुनै कासौं कहौं काके सुरत सँकोच
काको डर पथ अपथ को, को उत्तम को पोच

देखो ! देखो !! गोपी के पिता उसके पीछे दोड़े जा रहे हैं । बेटी ! बेटी !! कहकर चिल्ला रहे हैं । परन्तु गापी को तो विश्व का कोई ज्ञान ही नहीं है । 'गोपाल', 'गोपाल' 'गोपाल' की ध्वनि निरन्तर उसके मुख से निकल रही है । और ओह ! इस गोपी के मुख से निकले गोपाल नाम का कैसा विचित्र प्रभाव है । उस नाम श्रवण से उसके पिता की देह में जड़िमा का विकार व्यक्त हो गया है । वे चेष्टाशून्य ज्यों-के-त्यों खड़े हैं और गोपी 'गोपाल', 'गोपाल' कहती हुई तैलिक एवं ताम्बूलिक हाट की ओर चली जा रही है ।

हाट बाट प्रिय पुर गली जहाँ-तहाँ हरिनाम
समुझाये समुझै नहीं जाहि सिख दै विथक्यौ गाँम

युवतियों का एक दल एकत्र हो गया है । आश्चर्यचकित सभी देख रही हैं। एक युवती उस गोपी से कह रही है - "अरी ! इस प्रकार तू चिल्लाकर अपने कुल में कालिख क्यों पोत रही है री !" किन्तु गोपी के कान में यह सीख तो अब जाने से रही । उसे भान ही नहीं है कि मैं कहाँ हूँ ।

एक अधेड़ वयस्का युवती आगे बढ़कर उसे रोकना चाहती है । पर यह लो ! उसे छूते ही, गोपी को स्पर्श करते ही युवती के शरीर में कम्पन का विकार हो जाता है । थर-थर नाच रहा है उस युवती का शरीर । और गोपी तो आगे बढ़ गयी ।

अब देखो ! वह पूर्व की ओर दौड़ती आ रही है । राजपथ से नहीं, उस वीथी से - जो कलिन्दनन्दिनी के प्रवाह की ओर जाती है । और उस गोप के घर के द्वार पर रुक कर वह गोपी पुकार रही है - 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल' ।

अब देखो ! वह यमुना के उस अर्धवृत्ताकार मोड़ पर आ गयी है । एक उज्ज्वल वसना युवती उसके सामने खड़ी हो जाती है । "अब देखती हूँ, तू आगे कैसे बढ़ती है" - कर्कश स्वर से उसने गोपी को रोकना चाहा । किन्तु यह लो ! उस उज्ज्वल वसना युवती में भी 'गोपाल' नाम का प्रभाव व्यक्त हो गया । जड़िमा भाव ने उसे आत्मसात् कर लिया । 'गोपाल', 'गोपाल', 'गोपाल' की रट लिये गोपी आगे बढ़ गयी ।

अब देखो वह सित केशी धवल वसना वृद्धा गोपी उसे रोककर समझा रही है - "बेटी ! सात दिवस हो गये री ! तेरी ऐसी दशा है, तुझे क्या हो गया मेरी बेटी ! 'गोपाल, गोपाल' कहकर गोपी ने अपना मुख फेर लिया । वृद्धा की आँखों से झर-झर अश्रुप्रवाह बह चला ।

अरे अब तो वह वृद्धा भी बेटी की ही तरह गोपाल ! गोपाल !! चिल्लाती हुई गोपी के पीछे दौड़ी जा रही है । कैसा विचित्र प्रभाव है इस गोपी के मुख से निकले गोपाल नाम का ।

अब देखो ! अधेड़ गोपियों के एक दल ने उसे घेर लिया । समझाने लगी उसे । दल में जो सबसे बड़ी थी वह - "अरी ! तू सोच तो सही, इसमें तेरे लोक-परलोक दोनो ही नष्ट हो रहे हैं ।"

दूसरी कह रही है - "बावरी ! पथ-कुपथ देखकर चलना चाहिए, इसमें ही लोक-परलोक दोनों बनते हैं । और नहीं तो ।"

तीसरी कह रही है - "तू कितनी सयानी थी, री ! कितना ऊँचा जीवन था तेरा ! किस प्रकार तेरे सद्गुणों की चर्चा गाँव-गाँव में फैली थी । और आज 'गोपाल' ! 'गोपाल' !! -इतना ही बोल सकी तीसरी और न जाने उसे क्या हुआ - उस गोपी के चरणों में गिरकर वह मूर्च्छित हो गयी ।

अब उस दल में किसी को भी साहस नहीं हो रहा है कि उसे छेड़े क्योंकि पहली दूसरी भी उपदेश तो कर गयी, पर पहली की आँखों के आगे, दूसरी की आँखों के आगे एक साथ ही न जाने कौनसा दृश्य आया कि पलकें पड़नी बन्द हो गयीं ।

अब उस दल में जो सबसे गंभीर, शान्त प्रकृति की है, अब वह कह रही है, अपने दल से - "देखो ! इसे छेड़ने में कोई लाभ नहीं है । इस बेचारी को अपने तन की सुधि ही नहीं है । फिर संकोच, पथ-अपथ का भय, ऊँच-नीच का भेद क्या अर्थ रखते हैं, ये इसके लिये । इसके कण-कण में वह गोपाल, यशोदा का नीलमणि ही परिपूरित हो चुका है । सारा गाँव इसे समझाकर थक चुका है । अब तुम इस व्यर्थ के प्रयास से विरत हो जाओ ।" इतना ही कह सकी वह अधेड़ रमणी और न जाने उसे भी क्या हुआ, वह भी उस गोपी के चरणों में गिरकर मूर्च्छित हो गयी । और वह गोपी - 'गोपाल' 'गोपाल' की ध्वनि से यमुना के कूलवर्ती तमालों को नि:नादित करती हुई दक्षिण अरण्य की ओर चली जा रही है ।

पान किये जस वारुणी, मुख भलकत तन न सँभार ।
पग डग मग इत उत धरत विथुरी अलक लिलार ।।४।।

अब देखो ! वन पथ से, वन की पगडंडी से वह उस अश्वत्थ वृक्ष की ओर चली जा रही है । ओह । कैसी विचित्र दशा है इस गोपी की । ऐसा लगता है जैसे इसने कोई अद्भुत विचित्र सी मदिरा पीली हो । मुख लाल-लाल हो रहा है । ज्योति निकल रही है इसके मुख से । लाल किरणें निकल रही हैं । यह लो । ओढ़नी गिर गयी । कञ्चुकी और लहँगे का आवरण ही देह पर बच रहा है, अलकें बिखर गयीं । कुन्तलों की लटें गोपी के ललाट पर झूल रही हैं । उन्माद की इस दशा में वह आगे दक्षिण-पश्चिम

के कोण की ओर बढ़ती चली जा रही है डगमग गति से । अपने निवास-स्थल से दूर, बहुत ही दूर चली आई है वह । किन्तु उसे क्या पता ? जब अपने तन का ही भान नहीं उसे, तब फिर आवास कहाँ, कितनी दूर चला गया, इसे कौन देखें । पैर रखती है कहाँ और पड़ते हैं कहाँ । अरण्य के वृक्षों से टकराने चलती है, पर बड़ी विचित्र बात है । तरु शाखायें अपने कोमल पल्लव जाल से उसे थाम लेती हैं और वह आगे बढ़ती जा रही है । अब भी अनजान में ही वह नन्दग्राम को अपने दाहिने करके ही चल रही है। आ पहुँची वह अब उस तमाल की शीतल छाया में, जो उत्तर वाहिनी कलिन्द नन्दिनी के तट पर है । विस्फारित आँखों से देख रही है, वह चारों ओर। जनशून्य अरण्य स्थल है । कल-कल करती हुई प्रवाहिणी गोपी का स्वागत करती है । फिर एक लहर से उसे पाद्य समर्पित करती है । इस समय वन विहंगमों के अतिरिक्त कोई भी उसकी गति विधि को देख नहीं पा रहा है ।

मन्दिर ज्यौं भीतर बरै री बाहर लखै न कोय।
तृन परसत प्रजुलित भयौ (हो) गुपुत्त कौन विधि होय ।

अब देखो । वह तमाल की शीतल छाया में आँखें बन्द करके बैठ जाती है । ओह ! कितना विचित्र प्रभाव है उस गोपी का कुछ क्षण वन विहंगम भी मूक हो जाते हैं । तरु शाखाओं पर विराजित रहकर वे गोपी का दर्शन कर रहे हैं।

अब देखो ! उस तमाल पर बैठी सारिका अन्य विहंगमों से कह रही है। "तुम सब सुनो, मैं इस गोपी की जीवनी बतला रही हूँ तुम सभी को । तुम्हें स्मरण है ही कि इस रस-तरंगिणी के तथा उस सरोवर के मध्यस्थल में इस गोपी की पर्णशाला थी । एक बड़ा ही मनोरम उद्यान रस-तरंगिणी और सरोवर को सम्बद्ध कर देता था । इसकी पर्णशाला के अग्रभाग में एक लघु स्त्रोत भी था । जब रस-तरंगिनी बढ़ती तो उसकी लहरें, उसका जल उस स्त्रोत में बहने लगता और सरोवर तक चला जाता।'तथा जब सरोवर पावस की धारा से भरपूर हो उठता तो एक छोटे से द्वार से वह इस स्त्रोत में बह चलता । रस-तरंगिनी और सरोवर का इस प्रकार रसमय मिलन हो जाता । संभवत: गिरिराज के उस प्रच्छन्न निर्झर से ही इस स्त्रोत में जल आता था । ग्रीष्म में भी सूखता नहीं था । और कैसी विचित्र बात ! कभी-कभी हेमन्त में

भी, शीत में भी, शरद बसन्त में भी, शिशिर में भी अचानक वह सरोवर भी ऊपर तक भर जाता था, और उसकी धारा बह चलती उस स्रोत में ।

वह गोपी अपनी पर्णशाला में बैठी रहती । इसके नेत्र निमीलित रहते । इसके हृदय में नन्दनन्दन की प्रीति का दीपक अनादि काल से जल रहा था । किन्तु सभी गवाक्ष, रंध्र, पर्णशाला के सभी छिद्र, सर्वथा बन्द रहने के कारण समीर का एक झौंका भी पर्णशाला के भीतर नहीं आ पाता था । घास-फूस-निर्मित उस लघु विश्रामगृह के एक द्वार से ही वह गोपी आया-जाया करती थी । अपने हृदय मन्दिर को तो इसने ऐसा आवृत कर रखा था कि उसके अपने श्वास समीर भी उस दीपक तक नहीं पहुँच पाते थे । इसलिये सर्वथा निर्वात स्थत में विराजित रहकर प्रीतिदीप की लौ रंचमात्र भी नहीं हिलती थी ।

एक दिन की घटना है - दिनकर प्रतीची - क्षितिज की ओर झुक पड़े थे । रस-तरंगिनी के तट से गूँज उठी वह स्वर लहरी, वह मधुरातिमधुर झंकृति -

कमल मुख शोभित सुन्दर वेणु
मोहन ताल बजावत, गावत आवत चारे धेनु ।।

यह झंकृति एक विचित्र बयार के रूप में परिणत हो गयी । और जा पहुँची, उस गोपी की पर्णशाला में - गवाक्षों में नवीन छिद्र का निर्माण करके। इतना ही नहीं, गोपी के कर्णपुटों के द्वार से हृदय मन्दिर के समीप भी जा पहुँची बयार। और अचरज की बात । मन्दिर के आवरण में भी एक, दो, चार, पाँच, दस, बारह, सोलह छिद्र बन गये । बयार और प्रीति दीप की लौ का मिलन हो गया । लौ बड़े वेग से हिल पड़ी। गोपी के वक्षस्थल की ओर झुक पड़ी । तनके झीने आवरण को जलाकर बाहर निकल आयी । कुन्तलों की दो काली लटें वक्षःस्थल पर झूल रही थीं । लौ ने एक साथ दोनों को पकड़ा । गोपी का तन जलने लगा - परिधान जलने लगा । उधर बयार का झौंका अभी भी स्पंदित हो ही रहा था । घास-फूसमयी पर्णशाला के दो, तीन लम्बे तृण नीचे लटक पड़े । प्रीति की लौ लपट में परिणत हो ही चुकी थी । लपटने उस तृण को आत्मसात् कर लिया । प्रज्वलित हो उठी पर्णशाला । अब तक हम लोगों के अतिरिक्त सुनते हो विहंगमों ! किसी ने

नहीं देखा था उस गोपी को । गोपी की पर्णशाला को और गोपी के हृदय को तो कोई देखता ही क्या ? अब जब पर्णशाला और गोपी, गोपी का हृदय भी सब धक्-धक् जल रहे थे, तब फिर यह आग कैसे छुपती ? भीड़ इकट्ठी हो गयी । सभी ने जान लिया 'अहा ! यह बडभागिनी गोपी - संभवतः स्वप्न में एक बार - हमारे दृष्टिपथ में आयी थी अवश्य, परन्तु इसके हृदय मन्दिर में नन्दनन्दन की प्रीति का दीप जल रहा है, उस दीपक की निर्मल ज्योति ही हममे भी नन्दनन्दन की प्रीति जगाने की भूमिका का निर्माण कर रही है - इस बात को हम लोग सर्वथा ही नहीं समझ पाये । बाहर से कुछ भी दीखता जो नहीं था ।

'विहंगमों सुनो ! मैं स्पष्ट खोलकर बतला दे रही हूँ - यह गोपी उस सरोवर की अधिष्ठात्री देवी थी । गोपी की इन्द्रियाँ ही सरोवर का प्राची तट बनी हुई थीं । मन ही दक्षिण तट बना हुआ था । गोपी की बुद्धि ही प्रतीची तट के रूप में परिशोभित थी । इसकी अहंता ही उत्तर-तट के रूप में मूर्त थी ।

सरिता निकट तड़ाग के दीनो कूल बिदारि

'अब सुनो क्या हुआ ? प्रतिदिन ही रसतरंगिणी में बुद-बुदे उठते थे । उस सरोवर की ओर जाने के लिये ही तथा कभी-कभी बुद-बुदे लहरों में परिणत होते और स्रोत के द्वार से सरोवर तक जा पहुँचते । प्रच्छन्न रूप से सरोवर का प्रतीची तट, तट की नींव खोखली होती जा रही थी तथा एक दिन रसतरंगिणी में ऐसी बाढ़ आयी कि क्या बताऊँ ? पहले तो उसने सम्पूर्ण उद्यान को आत्मसात् कर लिया । वह पर्णशाला तो पहले ही प्रवाह में डूब चुकी थी । क्षण बीतते-न-बीतते रसतरंगिणी की बाढ़ प्रतीची तट के ऊपर से चल पड़ी ।

नाम मिट्यौ सरिता भई अब कौन निबेरै बारि ।।

इतने वेग का प्रवाह था कि दूसरे उच्छलन में ही, रसतरंगिणी के दूसरे उद्वेलन में ही सरोवर का प्रतीची कूल बीच से टूट गया । फिर तो दक्षिण-प्राची तटों को टूटने में देर ही नहीं लगी । इनके टूटते-न-टूटते उत्तर का तट टूटकर, सरोवर एवं रसतरंगिणी दोनों एक हो गये ।

रस-तरंगिणी ने सर्वथा, सर्वांश में आत्मसात् कर लिया उस सरोवर को । सरोवर का नाम था यह .....। गोपी उसकी अधिष्ठात्री देवी थी । सरोवर का नाम मिट गया। सरोवर रसतरंगिणी बन गया । जहाँ सरोवर था, वहाँ रसतरंगिणी लहरा रही है । अब किसकी सामर्थ्य है कि रसतरंगिणी के जल को रोक सके, रुद्ध कर सके । जो ऐसा करने जायेगा, करने जायेगी - वही बह जायेगा । बह जायेगी । डूब जायेगा, डूब जायगी । इस प्रेम सरिता की बाढ़ में । रस कल्लोलिनी के इस उद्वेलन में ।

लज्जा तरल तरंगिनी गुरुजन गहरी धार ।

कीर ! पक्षियों ! सुनो, देखो ! गोपी के निवासस्थान को तो देखो । देख रहे हो तुम ! लज्जा की कैसी विशाल नदी बह रही है । उस ग्राम के आगे। कितनी चञ्चल लहरें हैं उस नदी की । कितनी गम्भीर धारा है उसकी। इसके दोनो तटों को देखो ! उड़ते चले जाओ दोनों तटों पर, कहीं तटों की सीमा मिलेगी ही नहीं । और भी खोलकर कहे देती हूँ - वह गोपी बहुत ही लज्जावती थी । स्वभावत: चंचला होने से इसकी आँखें उठती तो सही नन्दग्राम की ओर, किन्तु तत्क्षण घूँघट की ओट में चली जातीं लज्जावश । इसके गुरुजन इतने कट्टर मर्यादावादी हैं कि पूछो मत । इस गोपी के दोनों कुल कितने विशाल हैं - घूमते-घूमते, देखते रह जाओगे, कहीं अन्त नहीं मिलेगा ।

किन्तु हुआ क्या ? आधा क्षण भी नहीं बीता, नन्दनन्दन की प्रीति के प्रवाह में यह गोपी ऐसी वह चली कि सर्वप्रथम लज्जा ने ही इसका साथ छोड़ा। गुरुजनों का यह गंभीर शासन आधे क्षण में निरर्थक हो गया । दोनों कुलों का बंधन पट-पट टूट गया । सबको छोड़कर, सबके ऊपर पैर रखती हुई, सम्पूर्ण प्रतिबन्धकों को पार करती हुई वह नन्दग्राम की ओर भाग चली । नन्दनन्दन की ओर दौड़ चली । प्रबल वेग से । कोई भी रोक नहीं सका, कोई भी रोक नहीं सकी, इसे । आधे क्षण में ही यह घटना संघटित हो गयी।

दोउ कुल कूल परिमित नहीं (हो) वाहि तरत न लागी वार ।।

अहा ! शुक, अहो !! कपोत !!! कोकिल, सभी विहंगम - बन्धुओं । देखो, कैसी शोभा है इस गोपी की इस समय । इसे क्या पता कि मैं इसकी जीवनी बतला रही हूँ । यह तो गयी ! गयी !! गयी !!! डूब गयी !

डूब गयी !! डूब गयी !!! कहाँ ? ओह । देखो, देखो, कलिन्द नन्दिनी के प्रवाह की ओर देखो । कलिन्द नन्दिनी कहाँ, महासमुद्र लहरा रहा है । अब उडो तो सही प्रतीची की ओर, दक्षिण की ओर, उत्तर की ओर - कहीं इस महासमुद्र का कोई तट तुम्हें मिलेगा क्या ? उस महाभाव रससमुद्र का कोई किनारा मिलेगा क्या ? और फिर प्राची की ओर भी उड़कर देख सकती हो, कहीं इस महाभाव रससागर का पार तुम्हें उपलब्ध होगया क्या ? अरे ! सुनो, रहस्य की बात बतलाती हूँ । इस महासमुद्र के फेन से ही निर्मित हुआ यह तट तुम्हें दीख रहा है । उस फेन से ही निर्मित तमालतरुराशि है, कदम्ब कानन है, यह वृंदारण्य है । कथन मात्र के लिये फेन से भला ।

'कैसे समझाऊँ ? अच्छा सुनो ! इस रस-सिन्धु की लहरें ही शीत उपल के रूप में परिणत हो गयी हैं, तरुजाल के रूप में परिणत हो गयी हैं, गिरि, गिरिश्रृंग के रूप में परिणित हो गयी हैं । आँखें गड़ाकर, देखो ! वही विशुद्ध रस ही इस द्वीप के रूप में परिणत हो गया है । कहीं भी उस रस के अतिरिक्त तुम्हें इनमें कुछ भी अन्यवस्तु उपलब्ध होगी ही नहीं । ऐसे, इस अपार महाभाव-रस सुधा-सागर में यह रस-सुधामय द्वीप का भान हो रहा है तुम्हें ? द्वीप की अनुभूति हो रही है तुम्हें ? और कितना गहरा है यह महाभाव-रस सुधा-सिन्धु । अरे, इसमें तल है ही नहीं । यह नित्य अतल है। और देखो । कैसी ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं इसमें । कुछ समझे ? ये लहरें क्या हैं ? यशोदा के नीलमणि, नन्दनन्दन ही इन उर्मियों के रूप में अभिव्यक्त हो रहे हैं । उनकी परमरसमयी लीलायें ही उत्तुंग तरंग बन-बनकर ऊपर उठ रही हैं । इस द्वीप को, उसके तटको आ-आकर आर्द्र कर रही हैं ।

विधि भाजन ओछो रच्यौ (हो) लीला सिन्धु अपार।
उलटि मगन तामें भयौ (हो) अब कौन निकासन हार।।

और देखो ! इस गोपी की लघु-ह्रत्-स्वर्ण कलशी उलट गई । इस महारस-सुधा-सिन्धु के प्रथम स्पर्श में ही देह से बाहर निकलकर लहरों में नाचने लग गयी । फिर इसमें रस-सिन्धु का जल भरते कितनी देर लगी । बाहर निकलते-न-निकलते वह उलटे मुँह वाली लघु-स्वर्ण कलसी, छोटी सी हेममयी कलसी लीलारस से परिपूरित हो गयी । दूसरी लहर में ही वह आगे बह चली, और देखो ! दूर, दूर, दूर - वहाँ डूब गयी वह हृदय कलसी, इस समुद्र के अतलतल में । विधाता में बुद्धि नहीं, अथवा जान बूझकर उसने इसे इतना छोटा बनाया, इसकी आकृति इतनी लघु कर दी - कौन बतावे इसे । किञ्चित् आकृति बड़ी होती तो आधे क्षण के लिये कदाचित् इन लीला लहरियों पर यह और भी नाचती । हमारी आँखें दर्शन कर कृतार्थ होतीं । निहाल होतीं । किन्तु जैसा होना था, हो गया ! जो हो, अब कोई, उस हृदय के कनक पात्र को इस ओर छोरहीन रसोदधि के अतल-तल से निकाल लाये तो सही । फिर से यहाँ लाकर रखे तो सही । कोई ऐसा है क्या ? किसी में यह सामर्थ्य दीखे तो बताओ, मेरे विहंगम बन्धुओं !

चित आकरष्यौ नन्द के मुरली मधुर बजाय
जेहि लज्जा जग लाजयो सो लज्जा गई लजाय ।।

'अहो रक्तचक्षु हरितगात्र विहंगवर ! इस गोपी के जीवन में ऐसे परिवर्तन हुए क्यों ? तुम जानते तो हो ही ! तुम्हीं क्यो न सुना दो आगे की कथा, आगे का इतिवृत्त ! क्या तुम्हें संकोच होगा ? मैं ही कह देती हूँ । तुम्हे स्मरण है ही, कीर ! तुम उड़ रहे थे, उड़-उड़कर उस ग्राम की गतिविधि का निरीक्षण कर रहे थे । आम्र की शीतल छाया में ही नन्दनन्दन आये कि तुमने मंगलाचरण किया इस गोपी की जीवनधारा को मोड़ने का । हम सभी ने पहले तुम्हारी ही वाणी सुनी थी ...

शोभित वेणु शोभित वेणु ।

और फिर बज उठी वंशी नन्दनन्दन की । वेणुका वह मधुर रव क्या-क्या चमत्कार कर बैठा - अभी-अभी इसे सुना चुकी हूँ । अब तो केवल कथा का उपसंहार ही सुनाना है । देखो ! इस रव ने ही आग लगायी थी गोपी की पर्णशाला में । आग नहीं लगी थी - वह तो गोपी के चित्तरूप स्वर्ण-कलशी का अन्तिम संस्कार था । सोने को तपाया जाता है भला !

रजकी, रज के एक अणु की छाया भी नहीं रहे पुरट पर, पुरट-पात्र पर । इसलिये और फिर उस कनक पात्र को नन्दनन्दन अपने हाथ में लेकर, अपने हृदय-मन्दिर में संस्थापित कर लेते हैं सदा के लिये । इसे ही कहा जाता है राग के उन्मेष की एक प्रणाली में इस प्रकार - नन्दलाल के द्वारा वंशी वादन होकर, उस वंशी ध्वनि के श्रवण से भी राग जग उठता है, वंशी बजाकर नन्द लाड़िले चित्त को आकर्षित कर लेते हैं । उसे अपने राग में रँगना आरम्भ करते हैं। जितनी तूलिका, उतने चित्रण एक ही चित्र के । अस्तु, इसके पश्चात् वे दस दशायें - और फिर अन्तिम परिणाम ? जिस लज्जा से जगत् का अस्तित्व बना है वह लज्जा स्वयं लज्जित होकर छिप जाती है । इस गोपी के जीवन में यही हुआ विहंगमों।

अरे ! देखो !! देखो !!! कैसी विचित्र घटना घटती दिख रही है । अरे ! वह अनन्त, अपरिसीम, असमोर्ध्व, नित्य-सत्य, संविन्मय महासमुद्र, उस ओर से उमड़ा चला आ रहा है । अरे ! वह देखो, वह उत्तुंग पर्वत श्रेणी अन्तर्हित हो गयी उसमें । नील, नील, नील, रसोद्वेलन, रस प्लावन बढ़ता जा रहा है हम सभी की ओर । कितनी ऊँची लहरें उठ रही हैं उसमें । आ गया, आ गया, आ गया, सर्वथा समीप आ गया । और देखो ! इस गोपी के चरणों को स्पर्श करने लग गया । अरे ! देखो, जय, जय ! जय, जय !! जय, जय, जय!!! नीलसुन्दर नित्य किशोर, वृजेन्द्रनन्दन गोपी के समक्ष खड़े हैं । जय, जय बैठ गये वे गोपी के सामने ! किन्तु गोपी के नेत्र अभी निमीलित ही हैं । जय, जय, जय, जय ! साँवर किशोर ने अंक में भर लिया गोपी को । देखो, देखो, जय ! जय !! जय !!!

प्रेम मगन ग्वालिन भई सूरदास प्रभु संग

गोपी के कन्धे पर हाथ रखे नीलसुन्दर जा रहे हैं उस ओर संविन्मय, अनन्त, अपरिसीम, असमोर्ध्व, महाभाव समुद्र के उस उद्वेलन की ओर ---- जय ! जय ! जय !!!

कीर, कपोत, कोकिल, नीलकंठ, "मिल लो गोपी तुम एक" रटने वाली पिरोई सभी खग-स्वजनों ! मैं रोती हूँ और एक बार तुम सब भी रोओ । गोपी चली गयी । अब यहाँ दिख रही है उसकी छाया मात्र ।

गोपी की यह छाया हम सभी के जीवन की अनमोल निधि है विहंगमों ! ध्यान से देखो । तमाल की छाया विराजित है । अद्भुत पीतमणिमयी एक लघुशिला से निर्मित रमणी की आकृति जैसी गोपी की देह दीख रही है । और

उसके कृष्णकुन्तलों की सोलह लटें, देह को सब ओर से आवृत्त कर झूल सी रही हैं । पर हैं वे लटें भी वास्तव में निस्पंद । ऐसी दिख रही हैं जैसे सोलह कृष्ण भुजंगिनियाँ निःस्पंद विराजित हों गोपी को लपेटे । गोपी के नयन, श्रवण, मुख, नासा-पुट की छाया संक्रमित सी हो गयी है इन भुजंगिनियों में ।

श्रवण नयन मुख नासिका ज्यों कंचुकी तजत भुजंग

कीर ! पिरोई री !! तुमने देखी होगी छोड़ी हुई सर्प की केंचुली । कैसी दीखती है ? सर्पिणी की आँखें, मुख, उसकी देह ज्यों-की-त्यों दीखती है उस केंचुली में । ऐसा लगता है, सचमुच ही वहाँ सर्प हैं, सर्पिणी है । किन्तु केंचुली में कहाँ सर्पिणी, कहा सर्प ! सर्पिणी, सर्प तो - उस आवरण को छोड़कर चली गयी, चला गया । वैसे ही गोपी अब इस छाया में कहाँ है ? कृष्णकुंतल मंडित गोपी की देह-छाया पड़ी है । उसमें आँख, कान नासिका, मुख सब के सब ज्यों के त्यों दीख रहे हैं, ऐसा लगता है मानो गोपी अभी भी यहीं है । किन्तु गोपी तो इस छाया को छोड़कर कबकी चली गयी । कीर मैं गीत नहीं गा रही हूँ - मैं रो रही हूँ।

पदव्याख्या में पू० गुरुदेव का भावजीवन

यह व्याख्या रूप कथा जो पू० गुरुदेव ने सत्संग सुधा के वार्षिक राधाष्टमी के वर्ष ----- के परिपत्र में लिखाई थी । इसमें पू० गुरुदेव के द्वारा उस समय के अपने संपूर्ण भाव जीवन का वृत्तांत **'प्रकट्यौ पूरण नेह की ग्वालिन'** के रूप में संकेत में लिख दिया गया है । उस समय पू० गुरुदेव ग्वालिन (गोपी) बने अपने भावदेह से ठीक वैसी ही पर्णशाला में बैठे रहते थे। इस गोपी की पर्णशाला के आगे एक लघुस्रोत बहता था । जब रस तरंगिणी में बाढ़ आती तो लहरें और उनका जल उस स्रोत को आप्यायित करता हुआ - सरोवर तक चला जाता था । इसी प्रकार वर्षा ऋतु में जब सरोवर पावस की जल धारा से भरपूर हो जाता था तो सरोवर का जल एक छोटे से द्वार से इस स्रोत में बह चलता। इस प्रकार इस स्रोत के माध्यम से रसतरंगिणी यमुना और सरोवर का रसमय मिलन होता रहता था । संभवतः गिरिराज के उस प्रच्छन्न निर्झर से ही इस स्त्रोत में जल आता था और ग्रीष्म में भी सूखता नहीं था । और कैसी विचित्र बात, कभी-कभी हेमन्त में भी,

शीत में भी, शरद में भी, बसन्त एवं शिशिर में भी अचानक यह सरोवर ऊपर तक भर जाता था और उसकी धारा बह चलती थी उस स्रोत में ।

यह सरोवर तो प्रेम सरोवर था और इसकी अध्ष्ठात्री देवी वह गोपी थी। सरोवर का पूर्व का तट गोपी की इन्द्रियाँ थी, और पश्चिम का तट उसकी बुद्धि थी, उत्तर का तट इसकी अहंता थी और उसका मन ही दक्षिण का तट था ।

पहले पू० गुरुदेव की बुद्धि अर्थात् ज्ञानराज्य, ब्रह्मभाव में रमी थी, परन्तु पू० पोद्दार महाराज रूप भगवान् श्यामसुन्दर ने पहले बुद्धि को डुबा दिया । भगवान् ने रस तरंगिणी में ऐसी बाढ़ लायी कि ब्रह्म भावापन्ना बुद्धि रसमयी कृष्णानुरागिणी बन गयी । यही प्रतीची तट की नींव का खोखला होना है । इस रसकी बाढ़ ने (अर्थात् पोद्दार महाराज रूप रसतरंगिणी की बाढ़ ने) पहले बुद्धि को रस से ओत-प्रोत कर दिया तत्पश्चात् दक्षिण का तट प्रियतम से अनुरक्त हो गया, अर्थात् मन में श्रीकृष्ण भगवान् भर गये अब पूर्व एवं उत्तर का तट तो जाना ही था । पूर्व का तट उसकी इन्द्रियाँ थीं सो भगवान् के वचनामृत सुनकर एवं वेणुनाद सुनकर वे सब डूब गयीं और अहंता भी मिट गयी सन्यासी पुरुष का भाव समाप्त हो कर गोपी भाव भर गया । पुरुष से परम नेहमयी नारी बन गये । फिर पर्णशाला और उद्यान सबका डूबना तो होता ही ।

यह सभी भावपूर्ण सांकेतिक वर्णन है ।

पूज्य गुरुदेव ने अपनी इसी पर्णकुटी का वर्णन 'प्रियतम काव्य' में भी किया है :-

पर भग्न हुआ सा था गृह वह, जिसमें रहती बाला प्रियतम!
थी तमसे परिपूरित रजनी जब तुम आये थे हे प्रियतम!
दीपक तक वहाँ नहीं था कुछ कण थे रज के बिखरे प्रियतम!
गोबर मिट्टी से यद्यपि थी अवनी लीपी पोती प्रियतम !
थे सब कपाट टूटे गवाक्ष के तथा द्वार के भी प्रियतम !
वह पवन धूलि भरकर दुकूल में लाया करता था प्रियतम ।।

बात यह है कि प्रेममयी तथा ऐश्वर्यमयी, समस्त लीलाओं का आधार भगवान् श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी ही हैं । श्रीकृष्ण तो लीला के

आस्वादक हैं और श्रीराधाजी लीला का आस्वाद कराती हैं। ऐश्वर्यमयी लीला के भी जैसे अनन्त स्तर हैं, वैसे ही प्रेममयी लीलाओं के भी अनन्त स्तर हैं । ब्रजलीला में ग्वालबालों के साथ जो लीला होती है, श्रीगोपीजनों के साथ जो लीला होती है, तथा श्रीराधाजी के साथ एकान्त में मात्र उन्हीं के साथ जो लीला होती है, इनमें सभी में भिन्न-भिन्न स्तर हैं । अभी तो पू० गुरुदेव प्रेम का ककहरा पढ़ रहे हैं । श्रीराधारानी से तो अभी उनका साक्षात्कार ही नहीं हुआ है । पू० गुरुदेव की प्रेम साधना अभी तो भावदेह के निर्माण और भावदेह की प्रगाढ़ प्रेमानुभूतियों में लहरा रही है ।

ग्वालबालों के संग की लीला एवं उसका अनुभव भी बिरले भाग्यवान् सन्तों को होता है, उनकी संख्या भी बहुत ही कम है । बात यह है कि लीला की बात करने वाले तो हजारों-लाखों मिल जायेंगे, परन्तु ठीक जिनका मन इन लीलापात्रों के साथ तादात्म्य करके ठीक अनुभूति में लहराये ऐसे संत बिरले ही होते हैं । फिर श्रीगोपीजनों के संग जो भगवान् श्रीकृष्ण का प्रेम है, उन गोपियों के प्रेम का प्रारम्भ कैसे होता है, श्रीकृष्ण दर्शन एवं मिलन के पूर्व गोपी की भावदशा क्या होती है, इस गोपीभाव के आरम्भ का परिचय ही इस "प्रकट्यौ पूरण नेहं" नामक पद में दिया है । पू० गुरुदेव इस गोपी से तादात्म्य लाभ करके उस प्रगाढ़ प्रेम में डूबे, लहराये हैं, यही कहने का अर्थ है।

शास्त्र पढ़कर हम बहुत सी प्रेम की बातें, लोगों को चकित कर देने वाली लीलायें बता सकते हैं, परन्तु सचमुच ही इन लीलाओं का दर्शन हो, ऐसा होना अति कठिन है । फिर दर्शन में तो दृष्य ही सम्मुख आता है, हम अछूते, अस्पृश्य पृथक् रह जाते हैं । हम इस लीला के पात्र स्वयं बनें एवं उसकी सब प्रीति संवेदनाओं के भोक्ता हो जावें, यह और भी दुर्लभ स्थिति है। यह सौभाग्य पू० गुरुदेव को श्रीराधाकृष्ण की महान् कृपा से प्राप्त हुआ था।

जहाँ समस्त परमार्थ साधना और साध्यतत्व समाप्त हो जाता है, वहाँ इस लीलातत्व का श्रीगणेश होता है । परन्तु यह बात मनुष्य की बुद्धि में तब तक नहीं आ सकती जब तक कि उसका अन्तःकरण सर्वथा निर्मल नहीं होकर वह पूर्णतया भगवत्कृपा के परायण नहीं हो जाता ।

वेदान्त की सच्ची साधना हो और सचमुच ही हम ब्रह्म प्राप्ति की स्थिति प्राप्त कर सकें तथा इसके पश्चात् जो एक रहस्यमय अनिर्वचनीय

सच्चिदानन्दमय साधना का मार्ग है, वह आरंभ हो, तब कहीं संभव है कि मनुष्य असली सगुण तत्व का रहस्य समझ सके । नहीं, तो होता क्या है कि दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, ब्रह्मानन्द की अनुभूति हो जाती है । पर इससे भी परे कुछ ऐसी रहस्यमयी बातें हैं, ऐसा अनिर्वचनीय कुछ भगवत्तत्व है, जो सर्वथा किसी भी साधना के द्वारा नहीं समझा जा सकता । उस स्थिति की प्राप्ति सभी ब्रह्म प्राप्त पुरुषों को हो ही, यह निश्चित नियम नहीं है । हो भी सकती है, नहीं भी । यह ब्रह्मज्ञान, तत्वचर्चा तो मनुष्य उसी क्षण भूल जाता है, यदि उसे स्वप्न में भी श्रीकृष्ण के रूप की हल्की-सी झाँकी ही हो जाती है।

कब की मह्यौ लियें सिर डोलै
(अनुभूति)

शिशिर के अन्तराल से वसन्त की सुषमा नन्दप्रासाद के सामने अवस्थित उन आम्र तरुओं पर व्यक्त होने जा रही है । आज नन्दनन्दन दिनकर की प्रात: रश्मियों को देख लेने पर भी गृह के भीतर से बाहर आने की मुद्रा में सर्वथा नहीं हैं । मैया चाह रही है प्रासाद से संलग्न गोशाला में उन्हें ले चले, किन्तु नन्दलाड़िले मैया के लँहगे को पकड़कर झूलने लगते हैं । मैया बाध्य हो जाती है पुन: बैठ जाने के लिये ।

"दही लो, दही लो, अरे दही ले लो !" - मधुस्यंदी स्वर सहसा गूँज उठता है मैया के कानों में । स्वर में एक अभिनव आकर्षण है । मैया ने इतना मधुर स्वर मानों कभी सुना ही नहीं था ।

मेरे लाल ! कोई ग्वालिन दही बेचने आयी है रे । बाहर-बाहर तोरण के उस पार रे ! चल देखें तो सही कौन है - अपने नीलमणि को भुजपाश में भरती हुई, कपोलों पर प्रीतिचिन्ह अंकित कर मैया ने प्रेरणा दी । किन्तु अचरज की बात, आज तो यशोदा के नीलमणि तुले बैठे हैं बाहर नहीं जाने के लिये ।

मन्द समीर का एक झौंका नीलमणि को स्पर्श करता है, उनके नखचन्द्रों को स्पर्श करने के उद्देश्य से - मानों मानचित्र से अन्य कोई पथ न पाकर विलीन होने आया है उनमें ही और संकेत कर रहा है - शिशिर के साथ मैं नहीं जाऊँगा । हे मेरे जीवन सर्वस्व ! मैं तुम्हारी नखमणि में ही तब तक

विश्राम करूँगा जब तक ऋतुराज मेरे अंगों को सुरभित नहीं कर दें अपने सौरभ से ।

अभी-अभी शिशिर भी आयेगा ही तुम्हारे-तुम्हारे-तुम्हारे ही पदनख की द्युति में ही अपना आवास ढूँढ़ने और उस समय हे भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु ! उससे तुम कह देना कि जब तक तुम समीर को शीतलता का दान करोगे, तब तक मैं आज तो क्या कभी भी बाहर नहीं निकलूँगा प्रासाद से । ऋतुराज की अर्चना को ही स्वीकार करने आऊँगा .....।

अरी मैया मुझे तो ठंड लग रही है री ! और तू कह रही है, बाहर चल, मैं तो नहीं जाऊँगा। नन्दनन्दन ने मानो विनती सुन ली समीर के प्राणों की।

'दही लो, दही लो, दही लो, अरी बहिनो ! कोई तो दही ले लो।' वही प्राणोन्मादी मधुमय स्वर मुखरित करने लग गया नन्द सदन के प्रांगण को ।

'मेरे लाल कोई तेरे राज्य की दीना ग्वालिन दही बेचने आयी है । पुकार रही है करुण स्वर से । चल, चल मेरे असंख्य प्राणों के प्राण ! एक बार चलकर देखें तो सही, कौन है यह ग्वालिनि ? अहा ! आतुर कण्ठ से बुला रही है वह किसी दही के ग्राहक को ! दही तो अपने घर, शत-शत मटकों में भरा है । परन्तु मेरे नीलमणि रे ! उसका दही अत्यन्त सुमधुर, अत्यन्त सुमिष्ट होगा । देख, देख कैसी मीठी पुकार है उसकी ! - इस बार प्रलोभन का जाल रचकर मैया ने नीलमणि को बाहर ले जाना चाहा । किन्तु नीलमणि मैया को खींच ले चले प्रतीची की ओर कलिन्द नन्दिनी के प्रवाह की दिशा में । मैया ने समझ लिया, अब उसके नीलमणि दिनकर-नन्दिनी की धारा के समीप ही खेलने का विचार कर रहे हैं । सुबल, श्रीदाम, विशाल, तोककृष्ण आदि प्रासाद के प्रतीची अंश के स्तंभों की ओट में मैया को दीख भी गये । मैया का मुख उस ओर ही हो गया । चल पड़ी मैया अपने नीलमणि को अंक में लेकर उस ओर ही ।

नीलमणि की क्रीड़ा आरम्भ होती है । अन्य शिशु योगदान कर रहे हैं । मैया अपलक नेत्रों से देख रही है । कभी आकर अंक में विराज जाते हैं और कभी जननी के कान के पास अपने बिम्ब विडम्बी अधरों को ले जाकर अत्यन्त धीमे स्वर में कह देते हैं - "दही लो !" और तत्क्षण मैया को अनुभव होने लगता है कि सचमुच वह ग्वालिनि अभी भी वैसे ही पुकार रही है । और यमुना के प्रवाह पर मानों उसका स्वर नाचता सा दीख रहा है ।

कल्लोलिनी की कलकल धारा मैया को 'दही लो' का भान कराने लग जाती है। और तो क्या, मैया अपनी कल्पना की आँखों से देखने भी लग जाती है मानों अत्यन्त निकट ही वही दही बेचने वाली कहीं छिपी खड़ी है और उसका ही स्वर सर्वत्र परिपूरित हो रहा है । साथ ही मैया को यह भान भी हो रहा है, उनका नीलमणि भी उसी स्वर की अनुकृति में संलग्न है । जैसे-तैसे नीलसुन्दर को भुलाकर पुनः एक कक्ष में ले आती हैं वे । उन्हें कुछ खिलाती हैं और इतने में मैया के कानों में पुनः **"दही लो, दही लो"** की ध्वनि झंकृत होने लगती है ।

इस बार मैया अपने को रोक नहीं पाती । नीलमणि को बरबस अंक में लेकर बाहर चलने को प्रस्तुत हो जाती हैं । किन्तु एक विचित्र-सी अवस्था में मैया के अवस्थित हो जाने के कारण नीलमणि गोदी से नीचे सरक पड़ते हैं । मैया भ्रान्त-सी हुई प्रासाद के बाह्यअलिन्द पर जाकर खड़ी हो जाती हैं और तोरण के उस पार उसे दीख जाता है, एक अत्यन्त सुन्दरी प्रौढ़ा अहीरन सिर पर छोटा सा दही का मटका लिये उन्मादिनी-सी वैसे ही पुकारती इधर से उधर घूम रही है । मैया देखती ही रह जाती है और वह ग्वालिन प्राची की ओर चल पड़ती है ।

कबकी मह्यौ लिये सिर डोलै ।

सहसा मैया को भान हुआ, नीलमणि अंक में तो नहीं है । और वह पुनः भवन के अन्तर्देश में लौट आयी । नीलसुन्दर आँखें नचाकर मैया के लहँगे से चिपक जाते हैं और मैया को बैठाकर उसके अंक में विराज जाते हैं।

एक, दो, तीन - घड़ी बीत जाती हैं । निमीलित नेत्रों से मैया अपने लाल को अंक में लिये समाधिस्थ बैठी है । शिशु उसे घेरे खड़े हैं । किन्तु यह एक-दो घड़ी का विचार भी बाह्य दृष्टि से ही है । वस्तुतः कितना काल व्यतीत हो गया - कहना कठिन है । क्योंकि दिनकर तो प्रतीची की ओर झूलते से दिख रहे हैं - नहीं, नहीं प्रतीची के क्षितिज को छूने जा रहे हैं । यहाँ का काल, व्रजदेश का काल प्रकृतिगत काल से भिन्न जो ठहरा।

जो हो, मैया की आँखें खुलती हैं और तुरन्त अत्यन्तिक व्यथा और करुणा से पूर्ण वही स्वर पुनः सुन पड़ता है - 'दही लो', 'दही लो'! मैया अन्य सभी कुछ विस्मृत कर यंत्रवत् पुनः प्रासाद के द्वार पर आती है, तोरण

के उस पार चली जाती है और अपलक नेत्रों से देखने लगती हैं उस ग्वालिन की ओर । स्वेद से लथपथ वह ग्वालिन मैया की ओर देखने लगती है ।

झूठे ही इत-उत फिर-फिर आवत

"अरी ! साढ़े तीन प्रहर बीत गये, तेरे स्वर का - 'दही लो' पुकार का विराम नहीं हो पा रहा है ।" मैया ग्वालिन का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करके इतना ही बोल पायी । मैया के अंक में एक विचित्र सी सिहरन का अविर्भाव हो गया ।

'सुनती है ? मुझे लगता है कि तू दही बेचने अवश्य आयी होगी, किन्तु झूठ-मूठ ही - किसी भी कारण से बार-बार मेरे द्वार पर ही आ जाती है और फिर पुकार उठती है । तेरे मन में कोई दूसरी अभिसन्धि है क्या री ? - मैया उत्तर की प्रतीक्षा में रुक गयी ।

'बोलती क्यों नहीं री ! देख मैं प्रातः से तेरा वही स्वर सुन रही हूँ, कहीं भी अब तक किसी ने तेरा दही लिया भी नहीं । मटका ऊपर तक ज्यों-का-त्यों भरा है ..... । मैया पुनः रुकी परन्तु उत्तर की प्रतीक्षा में नहीं। एक विचित्र भावावेश ने मैया को आत्मसात् कर लिया है ।

"तो क्या इसी गली में कोई दही खरीदने वाला है क्या री ? नहीं, कहीं किसी द्रुम की ओट में छिपा है क्या री ! उस ओर देख, कदाचित् हो । इस बहाना बनाने में क्या लाभ है री !" - मैया कहना नहीं चाह रही थी, पर न जाने क्यो ऐसे बोल गयी ।

ग्वालिन की आँखों में झर-झर अश्रु का प्रवाह चल पड़ा ।

'अरी ! तनिक मेरे निकट आ । देख, मेरी बात का बुरा मत मानना भला, और भी तो तेरे घर में कोई होंगी ही । तो क्या उनमें से और कोई दही बेचना नहीं जानती थी क्या ? दही के ग्राहक को पटानेवाली सबसे अधिक सयानी तू ही है क्या री ? ऐसे बोलना सर्वथा अनुचित अनुभव करती हुई भी मैया बोल तो गयी किन्तु मैया के प्राणों में एक वेदना का संचार हो गया ।

इततौ आय बात सुन मेरी कहै वलग जिन मानै
तेरे घर में तु ही सयानी और बेचि नहीं जानै
भ्रमतहि भ्रमत भरम गयी ग्वालिन विकल भई बेहाल
सूरदास प्रभु अन्तर्यामी आय मिले तत्काल ।।

दिनकर की किरणें अब नहीं दीख रही हैं । संध्या की नीरवता में खड़ी है वह ग्वालिन, और मैया देख रही है उसकी ओर । ग्वालिनी की प्रत्येक साँस कुछ कह रही है मैया से, किन्तु मैया इतना ही समझ पायी - उसे मेरी बात का दुख हो गया है । ग्वालिन की आँखों से झरता हुआ अश्रु का अनर्गल प्रवाह, अत्यधिक श्रान्ति से भरा हुआ कलेवर, मैया की आँखों में है । धैर्य रखना मैया के लिये संभव न रहा । एक हाथ से दही का मटका थामे हुए, दूसरे हाथ से अंक में भर लिया मैया ने उस प्रौढ़ा को । मैया को स्पष्ट अनुभव हो गया, कितनी वेदना की आग में ग्वालिन के प्राण जल रहे हैं ।

'अरी मैया ! तू तो यहाँ खड़ी है और मैं तुझे ढूँढ़ता फिर रहा हूँ और यह कौन है री ! जो तेरे अंक से लगी है ।' - नीलमणि ने एक साथ मैया को और उस ग्वालिन को छूकर जननी को झकझोरना आरम्भ किया । मैया दोनों को अंक में लिये वहीं तोरण के पास भूमि पर बैठ जाती है ।

'तो तू दही बेचने आयी है री ! कहाँ रहती है ? तेरा घर कहाँ है री ? तू मुझे दही दे दे, देखूँ कैसा है ? ओह बड़ा ही मीठा होगा।" नीलमणि ने मटके को सिर से उतारना चाहा और मैया ने उसे अपने हाथों से उतार दिया ।

बड़ा मीठा दही है - नन्दनन्दन ने दही का आस्वादन करते हुए ग्वालिन की आँखों की ओर देखा।

चेतनाशून्य ग्वालिन मैया के अंक में पड़ी है । नीलमणि मैया की ओर और कभी उसकी ओर देख-देखकर हँस रहे हैं ।

'कभी मैया से पूछते हैं कुछ अटपटे प्रश्न - तो क्या संध्या के समय दही बिकता है ? .... यह तो न जाने क्यों यहाँ आकर नींद में सो रही है .... थक गयी है क्या, मैया ..... तो रात्रि में अपने घर कैसे जायेगी ? .... तू इसे अपने घर में ही क्यों नहीं रख लेती ? .... इसके घर में कौन-कौन हैं मैया .... ? यह भूखी दीख रही है ..... अच्छा प्रातःकाल यही पुकार रही थी, दही लो ..... मैया ! यह तो वृषभानुपुर की दिखती है ? वही-वही गाँव, तुझे याद है न री मैया ! .... तू इससे पूछ तो वह बात ..... । तू कितनी देर सोयेगी री ....? ऐ मैया ! यहाँ तो कोई भी दही बेचने नहीं आती थी री ! यह मुझसे कितनी बड़ी है, मैया ! ऐ मैया ! घरवाले इसे अपने घर में न देखकर इसे खोजने आयेंगे कि नहीं ? तो तू बाबा को भेज दे इसके घर कह आयेंगे - 'आज तो मेरे घर ही रहेगी यह।' तू इससे पूछ इसका ब्याह हुआ है या

नहीं। वही, वही, वही सपने की बात तुझे याद है न ..... । अरी मैया, कहीं वही तो नहीं है री ....? पर यह तो मुझसे लम्बी अधिक है ..... और तूने उसे आयु में मुझसे छोटा बताया था । तो, एक दिन में अगर कहीं मेरे से लम्बी वही हो गयी होगी तो क्या पता ? ऐ मैया ! तू इसे छूकर बता कि यह सो रही है कि केवल सोने की नकल कर रही है । देख, मैया ! इसके पेट में गुदगुदी कर, सोयी होगी तो जाग जायगी नहीं तो हँस पड़ेगी .... । अथवा इसके मुख में थोड़ा दही तू डाल दे, यदि खाने लगेगी तो समझ लेना जगी हुई है । किन्तु यदि नकल कर रही होगी तो चुपचाप दही ढरका भी देगी । मैया तू कोई उपायकर जिससे मैं जान सकूँ कि यह सचमुच ही सोयी है या सोने की नकल कर रही है । अरे ! इसके तो सारे परिधान गीले हो रहे हैं । तो यमुना में नहाकर आयी है या स्वेद से भीग गये हैं इसके वस्त्र । तो मैया ! तू अपने घर से इसके लिये लहँगा ला दे और ओढ़नी भी ।

अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया का ..... अचिन्त्य लीला महाशक्ति का एक आवरण आ जाता है । मैया के दृष्टिपथ से ग्वालिन अन्तर्हित हो जाती है और मैया विस्मृत कर जाती है गत साढ़े तीन प्रहर की घटनावली को । उसे भान होता है, 'नीलमणि भी यहाँ नहीं है । कहीं गोशाला में खेलने गया है।'

अटपटे प्रश्नों का साधन रहस्य

प्रकृति से .....निर्गुण (प्रीति गुणों के) धरातल पर अविराम भाव से चलने वाली व्रजेन्द्रनन्दन की इस उपर्युक्त लीला के अन्तराल में, उनके अटपटे प्रश्नों में ब्रज के मधुर भाव की साधना का एक बड़ा ही अद्भुत संकेत पू० गुरुदेव दे रहे हैं । अवश्य ही पू० गुरुदेव के द्वारा दिये गये इस संकेत को हृदयंगम वही कर सकता है, वही कर सकती है, जो सचमुच अपने हृदय को दही का प्रतीक बनाकर इस ग्वालिन की भाँति अपने सिर पर, दूसरे शब्दों में - अपने विवेक पर प्रतिष्ठित कर नन्दनन्दन को खोजने की अभिलाषा लिये हो । साधना का प्रवाह कैसे चलता है - यह अनुभव उसी के लिये संभव है, जो अन्य अभिसन्धियों से सर्वथा शून्य होकर, साधना में ही अपने मन-प्राण को तन्मय कर देने में जुट पड़ता है । और फिर वहीं जहाँ वह है, जिस परिस्थिति में है भगवत्कृपा के प्रकाश की प्रतीक्षा करता रहता है। यह सिद्धान्त सत्य है, ब्रजभाव के साधक को विवेक का आधार तो रखना

पड़ेगा ही । किन्तु उस पर अपने हृदय के भावों की प्रतिष्ठा कर, उसके प्राबल्य को सुरक्षित रखना होगा । उसका भाव ही तो उसका भगवान् है जो व्रजेन्द्रनन्दन के साथ मिलन कराने में हेतु बनेगा । यह निष्ठा तो उसे रखनी ही होगी । जो भावों के प्रवाहों को गौण कर, विवेक को ही प्रधान कर, ब्रजभाव की साधना में चलते हैं, उनके लिये ब्रजभाव की साधना केवल चित्त शुद्धिका दान कर सकेगी । रसराज और महाभाव के संविन्मय स्वरूप का अनुभव उन्हें हो ही जाय, यह कहना बड़ा कठिन है । साथ ही यह भी सत्य है - दृष्य से सर्वथा ऊपर उठकर ही **"सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म"** में पूर्ण परिनिष्ठा जिनकी है, उनके लिये ही, ब्रजभाव के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति संभव होती है । इसलिये ही विवेक पर हृदय को प्रबल करके और फिर साधना में जुटकर भगवत्कृपा की प्रतीक्षा करने का मार्ग ही निरापद और निश्चित रूप से ध्येय की प्राप्ति कराने वाला माना गया है । पू० गुरुदेव की मान्यता है कि प्रतिभा के आश्रय से ब्रज रसके सत्य स्वरूप की प्राप्ति आज तक तो नहीं देखी गयी, और उपर्युक्त चिन्मयीलीला में पू० गुरुदेव इसका सुस्पष्ट संकेत हमें प्राप्त करा रहे हैं ।

ग्वालिन आई है दही बेचने - नहीं-नहीं, अपने हृदय को व्रजेन्द्रनन्दन के चरण सरोरुहों में समर्पित करने को । उसका विवेक उसके हृदय को स्थिर किये हुए है, किन्तु साथ ही उसके ग्राहक नन्दनन्दन और नन्दनन्दन से सम्बद्ध सबके लिये उसके हृदय का स्वरूप सुस्पष्ट है । आवरण के अन्तराल में रहने पर भी किसी को भ्रान्ति नहीं है कि उसका रूप क्या है ? वाणी के द्वारा भी ग्वालिन घोषित कर रही है - वह क्या बेचने आयी है। वैसे ही साधक भी जो सच्चा साधक है, सबके समक्ष आवरण शून्य रहता है। उसके हृदय के स्वरूप के संबंध में किसी को भी भ्रांन्ति नहीं है कि उसका रूप क्या है ? इतना निर्मल वह होता है । पुनः ग्वालिन पुकार अवश्य कर रही है दही के ग्राहक की, परन्तु ऐरे-गैरे ग्राहक को वह दही दे भी नहीं रही है । ठीक इसी प्रकार सच्चा साधक घूमता अवश्य है, परन्तु उसकी गति होती है नन्दनन्दन की ओर ही । अपने हृदय को अन्य किसी के चरणों में वह समर्पित कर ही नहीं सकता ।

ग्वालिन की साधना में कहीं भी विश्राम के लिये अवकाश नहीं । आधे क्षण के लिये भी ग्वालिन नहीं ठहरती कहीं - साधक भी कहीं किसी अन्य की ओर देखता ही नहीं । और तब नन्दनन्दन की जननी के कानों में ग्वालिन

की पुकार पहुँचती है । .... ठीक वैसे ही सच्चे साधक की पुकार सच्चे महापुरुषों के, सच्चे महासिद्धों के ध्यान को आकर्षित कर लेती है । नन्दनन्दन पर आधिपत्य है एकमात्र नन्दगेहिनी का, वैसे ही सच्चे महासिद्धों की ही निधि है भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन ! मैया आती है, वैसे ही महासिद्ध भी अन्त में आ ही जाते हैं, अपनी निधि का दान करने, किन्तु नन्दनन्दन खरे सौदागर हैं और प्रीति की परीक्षा करने के अनन्तर ही, प्रीति की विशुद्धता को परखने के उपरान्त ही अपने स्पर्श का दान करते हैं । इसलिय महासिद्धों की गति भी तब तक अवरुद्ध ही रहती है, जब तक साधक उन आवश्यक साधना के अंशों में उत्तीर्ण नहीं हो जाता । यहाँ का कालमान बदल नहीं सकता किन्तु साधक की परीक्षा समाप्त होते ही सम्पूर्ण प्रतिबन्धकों का अवसान करके मिलन का क्षण उपस्थित कर ही दिया जाता है ।

मैया पूछ गयी है कितने प्रश्न ग्वालिन से, ठीक वैसे ही महासिद्ध भगवत् संयोग की सिद्धि के लिये, उसके लिये आवश्यक वेदना उत्पन्न कर देने के लिये भूमिका का निर्माण कर देते हैं । ग्वालिन अदर्शन की वेदना ज्वाला में जलने लगती है, साधक के लिये भी महासिद्धों के द्वारा निर्मित उस भूमिका का पर्यवसान होता है, मिलन की उत्कण्ठा के लिये धक्-धक् करते हए अग्नितापमें । और ग्वालिन के समक्ष नन्दनन्दन आ ही गये, और वैसे ही आ जाते हैं नन्दनन्दन साधक के सामने भी । क्षणिक चिन्मय संस्पर्श ग्वालिन को अभिभूत कर लेता है, साधक को भी नन्दनन्दन का स्पर्श आत्मसात् कर लेता है । और तब दधि के आस्वादन की प्रक्रिया जैसे वहाँ चली, वैसे ही संविन्मय-स्वरूप विलास का समुद्र हिलोरें लेने लगता है । वे अटपटे प्रश्न संविन्मयी लहरें हैं । अवश्य ही उनका सम्बन्ध तट से - नन्दनन्दन स्वरूप महासिद्ध से कथन-मात्र के लिये रह जाता है । लहरें अपने आप में ही, अपने-आपके प्रति ही नाचती रहती हैं ।

नन्दनन्दन की आँखें केवल स्वरूपभूता वृषभानुनंदिनी राधाकिशोरी, राधाकुमारी को ही देखती हैं । ओर इसलिये रस समुद्र की ऊर्मियाँ अपने-आप में ही, अपने आप से ही विलसित होती हैं । किन्तु साधक के लिये उसी स्थान पर पूर्णरूप से सम्पूर्ण जीवन की साधना का संकेत रहता है - साथ ही स्वरूप विलास का रूप अक्षुण्ण विराजित रहता है :-

१. **तो क्या संध्या के समय दही बिकता है ?** - जीवन की संध्या आने से पूर्व ही ऐसी व्याकुलता का बिन्दु सृष्ट करलो, जहाँ तुम्हारे हृदय के

समर्पण को स्वीकार करने के लिये मुझे तुम्हारे सामने अभिव्यक्त हो जाना पड़े । तुम्हारे हृदय का ग्राहक मैं ही हूँ । परन्तु तब तक तुम्हारे समक्ष आऊँगा भी नहीं, जब तक मेरे लिये आत्यंतिक व्याकुलता की लहरों में तुम्हारी सत्ता विलीन होती मुझे न दिखे । तुम पर शक्ति संचार हो चुका था, मध्यान्ह आने से पूर्व ही - किन्तु वह शक्ति मूर्त नहीं हो सकी अपने संपूर्ण वेग से .... ग्राहकता शक्ति के अभाव में ।

ग्राहकता शक्ति का परिवर्धन तुम्हारे हाथ में है .... । वह शक्ति ग्राहकता का उन्मेष भी करेगी अवश्य .... पर यदि तुम्हारी आँखें केवल मुझ ग्राहक की ओर टिकी रहकर, लज्जा छोड़कर केन्द्रित रहेंगीं मेरी ओर ही .... आँखें किसी भी दिशा की ओर न जाकर, और अपने पुरुषार्थ - की गति को बन्द कर यदि मेरी ओर ही स्थिर हो जायेंगीं तो उस आकुलता का बिन्दु सृष्ट हो जायेगा जीवन की संध्या के आने से पूर्व ही - अन्यथा अन्तिम क्षण में ही मेरा स्पर्श तुम्हें प्राप्त होगा । होगा अवश्य .... पर साँझ होने से पहले ही, अन्तिम साँस आने से पूर्व ही, पर्याप्त पहले भी तुम मेरा संस्पर्श प्राप्त कर सकते हो, वह व्याकुलता सृजन करके । ...

नित्य निकुंजेश्वरी वृषभानुनन्दिनी ! प्राणों की उत्कण्ठा लिये मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था - तुम्हारे रसमय हृदय के आस्वादन की, किन्तु तुम उस आकुलता पर द्रवित हुईं तब, जब निराशा के बिन्दु को मैं छूने लगा..।

क्या मैं इतने विलम्ब से तुम्हारे दर्शन का अधिकारी हूँ तो जैसे तुम मुझसे रूठ जाती हो, वैसे अब मैं भी रूठा हूँ तुमसे .... । आँखें अपलक निहार रही थी केवल, केवल, केवल, तुम्हें । पर गुरुजनों की लाज मुझे बाध्य कर रही थी बाहर नहीं आने के लिये । तुम क्यों नहीं कक्ष में चली आयी ।

मेरी लज्जा के आवरण को तो तुम्हें तोड़ना ही पड़ेगा । चाहकर भी मैं मिल नहीं पाऊँगा तुमसे, यदि तुम मुझ पर अहैतुकी कृपा का प्रकाश न करके स्वयं मेरे पास नहीं आ जाओगी । ... तुम्हीं सोचो कदाचित् मैया बाहर नहीं आती तो अपनी लज्जा को मैं तो छोड़ नहीं पाता । तुम अब आगे तो मुझ पर उस कृपा का प्रकाश करो - प्रातः समीर के समय हम दोनों एक बार मिलकर और .... ।

२. **"यह तो न जाने क्यों यहाँ आकर नींद में सो रही है ।"** तुम्हारी सारी भ्रान्ति दूर हो जायेगी और तुम परमानन्द में निमग्न हो जाओगे - बाह्य दृष्टि से मानो तुम मुझे नहीं देख रहे हो, ऐसी प्रतीति होने पर भी ।"

"किशोरी ! प्राणों की रानी !! मैंने तो तुम्हें कुछ भी नहीं कहा ? क्या मेरा कहना अनुचित था ? क्यों तुमने मेरी ओर से आँखें फेरलीं .... ?

३. ..... **थक गयी है क्या मैया .....?** - तुम्हारे अनन्त अपरिसीम आनन्द में निमग्न रहने पर भी मेरी करुणा की लहरें तुम्हारे लिये उत्तरोत्तर अप्रतिम सुख का सृजन करती रहेंगी । वे लहरें तुम्हारा पाद संवाहन करती रहेंगी ।

किशोरी ! कितनी दूर से चलकर तुम आयी हो ? मैं तुम्हारे चरणों को अपनी अलकों से पौंछकर निहाल होऊँ।

४. **तो अब रात को अपने घर कैसे जायगी ?** - एक बार मुझसे मिलन हो जाने के पश्चात् तुम माया के आवरण में नहीं जा सकते । दुख तुम्हें स्वप्न में भी छू नहीं सकेगा ।'

'मेरे शत सहस्र प्राणों की रानी । आज की रजनी तो इस कदली निकुंज में ही हम दोनों अतिवाहित करें ।

५. **'तू इसे अपने घर ही क्यों नहीं रख लेती .... ?'** तुम्हारे अन्दर संकल्प ही नहीं जगेगा कोई-सा भी । फिर वेदना का, दुख का सदा के लिये अन्त हो जायगा तुम्हारे लिये । तुम मेरे चरणों को छोड़कर अन्यत्र कहीं सुख की अनुभूति ही नहीं कर सकोगे ।'

जीवनेश्वरि ! मेरे अंक में तुम्हारे चरण विराजित रहने पर तुम्हें सुखानुभव होगा कि नहीं, कह नहीं सकता। किन्तु आज कुछ क्षणों के लिये, आज की रजनी के लिये मुझे यह सौभाग्य दे दो । और तुम मुझे बतला देना, तुम्हारी भ्रान्ति का अपनोदन हुआ कि नहीं ?

६. **इसके घर में कौन-कौन हैं मैया ?** माया का आवरण नष्ट हो जाने के कारण फिर तुम्हें नित्य-निरन्तर सर्वत्र केवल मेरी ही मेरी उपलब्धि होगी।'

'प्राणों की रानी ! यह बतलाओ, आज जब तुम आ रही थीं, तब द्वार पर कौन-कौन खड़े थे ? किन्तु तुम्हारी आँखें तो मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं देख पाती । तुम कैसे बतला सकोगी ? .... ओह ! इस तन्मयता का एक कण भी कदाचित् मैं स्पर्श कर पाती ।

७. **यह भूखी दीख रही है** .... ? तुम्हारे अन्दर कोई वासना न रहने पर भी जितनी वासनाओं का सृजन तुम्हारे द्वारा हुआ था, उनकी आत्यन्तिक पूर्ति का अंनुभव भी तुम्हें हो रहा है कि नहीं । .... तुम्ही बतलाओ।"

प्राणेश्वरि । अब मैं तुम्हें अपने संविन्मय रस में स्नान कराऊँ क्या ?

८. अच्छा... प्रातःकाल यही पुकार रही थी, 'दही लो ..... । .... तुम्हें यह भी अनुभव हो जायगा कि मैं सतत् जागरूक था तुम्हारी गतिविधि की ओर से और तुम्हें मान हो रहा था, मानो मैं उदासीन हूँ तुम्हारी ओर से ।'

"मेरे नयनों की पुतरी । मुझे प्रातःकाल से ही भान तो अवश्य हो रहा था कि तुम मिलने आयी हो मुझसे, किन्तु .... उस कारण से तुम्हें विलम्ब हो रहा था मेरे पास आने में ।

९. मैया ! यह तो वृषभानुपुर की दिखती है ? तुम्हें मुझसे मिलने से पूर्व मेरी प्रियतमा वृषभानु किशोरी के पदचिन्ह जहाँ पड़े होंगे, उस धूलि की अर्चना करनी पड़ेगी । यह धूलि ही तुम्हें अधिकार का दान करेगी।

भानुनन्दिनी ! हम दोनों को भी तो भानुपुर चलना ही है ।

१०. वही, वही गाँव - तुझे याद है न री मैया ! तू पूछ तो इससे वह बात ।' - तुम भूले नहीं होओगे, कैसे तुम्हारी यह साधना, वह अनुभूति, रस की साधना में परिणत हो गयी थी ? क्यों ? अब तो अचरज नहीं हो रहा है मेरी उन प्रेरणाओं पर ।"

'प्राणेश्वरी, उस बकुलतरु की घटना याद है, न ?

११. - 'तू कितनी देर सोयेगी री !' - अब तुम देखो, कहीं तुम्हारी आँखें जाती है क्या अन्यत्र मुझे छोड़कर ?

'प्राण संजीवनी ! कब मैं तुम्हारी उस कृपा का अधिकारी बनूँगा ?

१२. - ऐ मैया ! घर वाले इसे अपने घर में न देखकर इसे खोजने आयेंगे कि नहीं ....?' - अब तुम्हें माया की छाया भी देख नहीं पायेगी । निश्चिन्त रहना, भला ! इसलिये कह रहा हूँ कि भक्तिरस से विशुद्धतम आवेश में तुम्हें भय की भ्रान्ति कदाचित् हो जाय ।'

'प्राणेश्वरी ! वहाँ .... उस कक्ष का द्वार कदाचित् खुला रह गया हो तो .... ।

१३. तो तू बाबा को भेज दे इसके घर । कह आयेंगे - 'आज तो मेरे ही घर रहेगी यह .... !' तुम जिन-जिन से जुड़े हुए थे, जिन-जिनके मन में तुम्हारे प्रति तनिक भी महत्व था, वे भी मेरा संस्पर्श करेंगे भला ।'

'तुम चिन्ता मत करो, मेरे प्राणों की रानी ! ललिता, विशाखा, आदि ने निश्चित रूप से .... उसकी भी व्यवस्था अवश्य कर दी होगी ।'

१४. **यहाँ तो कोई दही बेचने नहीं आती थी, री ।** देखो, हजारों हजारों में कोई एक ही मेरी ओर मुझे ढूँढ़ने चल पड़ता है ।'

प्राणाधिके ! मुझे सुख देने के लिये तुमने आज कुछ भी उठा नहीं रखा।

१५. ... **यह मुझसे कितनी बड़ी है मैया !** ... तुम जिस दिन, जिस क्षण मेरी ओर चले हो - उसी दिन, उसी क्षण से मैं तुम्हारा पुजारी हूँ ।

'प्राणों की रानी ! प्राणवल्लभ !! अनन्त काल तक मैं तुम्हारा ऋण परिशोध नहीं कर सकूँगा ।

१६. **तू इससे पूछ इसका विवाह हुआ है या नहीं ?'**

"तुम्हें स्मरण होगा - कैसे मैंने क्षणों में ही तुम्हारी ममता के समस्त बन्धनों को तोड़ दिया था ।"

'प्राणेश्वरी ! मेरे प्राणों की आराध्य देवी !! काल के अनादि प्रवाह में मेरे अतिरिक्त तुम्हारी आँखें अन्यत्र गई ही नहीं ।

किन्तु हाय रे ! मैं तुम्हारे योग्य बन नहीं सका ... ।

१७. "**वही, वही, वही .... सपने की बात तुझे याद है न ? अरी मैया ! कहीं वही तो नही है री !**" 'उस प्रथम स्वप्न में भी मैं ही मूर्त्त हुआ था, भला ! वह तुम्हारी स्वप्नानुभूति नहीं थी । वास्तविकता ही किञ्चित् आवरण लिये व्यक्त हुई थी ।'

"प्राणवल्लभे ! तुम्हारा स्वाप्निक संस्पर्श भी कितना प्राणोन्मादी होता है, इसे किन शब्दों में कहूँ ...।"

१८. **'पर यह तो मुझसे लम्बी अधिक है और तूने तो आयु में उसे मुझसे छोटा बताया था ....** ? देखो ! साधना की दिशा में तुम्हारी प्रगति बहुत ही छोटी आयु में पर्याप्त हुई थी और तुमने अपने भाव के प्रवाह में मेरे प्रीति-प्रतिदान को लघु-लघुत्तर-लघुत्तम बना दिया । मैं तुम्हारी प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ, भला ! ध्रुव सत्य को प्रकट कर रहा हूँ । ऋण परिशोध का एक नगण्य प्रयास कर रहा हूँ ।'

'जीवन संगिनी ! शैशव की प्रथम किरणों से ही आरम्भ कर तुमने मेरे प्रति-प्रतिक्षण वर्धमान जिस अनुराग का परिचय दिया है, उसकी विशालता एवं नन्दसदन की भूमि को स्पर्श करने के आरम्भ से मेरी हृदयहीनता का चित्रण न तो कोई कर सका है और न कोई आगे कर सकेगा ?'

१९. - **'तो एक दिन में कहीं मेरे से लम्बी वही हो गयी हो तो क्या पता** ? दिन भर दौड़ने के कारण लम्बी हो गयी हो तो क्या पता ?' देखो

मेरी सर्वज्ञता मानो कुंठित हो जाती थीं तुम्हारे साधन की लगन को, गरिमा को, आँकने में ।

'प्रियतमे ! मेरे प्राण आज भी लज्जा का अनुभव कर रहे हैं तुम्हारे निरन्तर निमीलित बने नयन - सरोरुहों की स्मृति से, और अपनी चंचल आँखों की नीरसता के चिन्तन से ।

२०. - **ऐ मैया ! तू जरा इसे छूकर बता कि यह सो रही है कि केवल सोने की नकल कर रही है ?"** - तुम्हें स्मरण होगा - ध्यान की तन्मयता में तुम दृष्य को सर्वथा विस्मृत कर चुके थे - आज से बहुत दिवस पूर्व ही । और उस समय मैं तुम्हारे पास खड़ा होकर जो तुम्हें जगाने का प्रयास कर रहा था, उसमें मेरी सर्व समर्थता भी पंगु बन गयी थी ।'

"प्राणेश्वरी ! स्मृति लेकर आया था मैं, उसके द्वारा पद्मपराग को मेरी आँखों पर बड़ी चतुराई से फूँक देने की प्रवृत्ति को और छद्मनिद्रा के अन्तराल से तुम्हारे मनोभावों को पढ़ता जा रहा था उस दिन । तीन घड़ी तक निरन्तर वेषभूषा से सज्जित होकर आने की, उसके व्यर्थ हो जाने की स्मृति तक तुम्हें नहीं थी । हाय रे ! आधे क्षण के लिये भी काल के प्रवाह में मैं तुम्हारे विशुद्ध अनुराग को छू सकता ... ।

२१. - **देख मैया ! इसके पेट में गुदगुदी कर, सोयी होगी तो जाग जायगी, नहीं तो हँस पड़ेगी ...!'** तुम समझ नहीं पाये थे, उस दिन मैं सोच रहा था, तुम्हें नैर्गुण्य में प्रतिष्ठित कर दूँ अथवा अपना संयोग दान करूँ । किन्तु तुम्हारे भाव का प्रवाह दोनों की ओर से उदासीन रहकर अपनी गरिमा में प्रसरित हो रहा था । पुनः मेरी 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम्' सामर्थ्य मुझे छोड़ सी गयी ।"

'मेरे असंख्य प्राणों की प्राण ! तुम्हारी मुझे सुखदान की अभिलाषा उस दिन जिस गरिमा से मूर्त्त हुई थी, यदि उसके एक कण का भी प्रतिदान मैं दे पाता तो मेरा जीवन कृतार्थ हो जाता । स्वसुख वासना के आत्यन्तिक अभाव का वह निदर्शन अनन्त काल तक मेरी दृष्टि को नीचे ही किये रहेगा । प्रतिदान की लालसा की ऐसी निर्बीजता कदाचित् कभी मुझमें भी त्रुटिभर के लिये ही, स्वप्न में ही मूर्त्त हो जाती ।

२२. **अथवा इसके मुँह में थोड़ा दही तू डाल दे यदि खाने लगेगी तो समझ लेना, जगी हुई है, किन्तु यदि नकल कर रही होगी तो चुपचाप दही ढ़रका भी देगी।'** - और उस उषाकाल के समय जब मैं अपना मन तुमसे

मिलाने चला था, उस समय तुम्हारे असमञ्जस की वृत्ति कैसी हुई थी, वह भूल ही नहीं सकूँगा ।

प्राणों की रानी ! अनन्त काल तक के लिये वेदना के अश्रुओं को वरण कर लेना तुम्हारी ही महिमा है । क्या तुम्हारे चरण सरोरुह की एक रज:कणिका से अपनी आँखों को आँजकर मैं भी कभी दो बूँदें गिराकर अपने पीले दुकूल को सिक्त कर सकूँगा ....?

२३. **मैया ! तू कोई उपाय कर, जिससे मैं जान सकूँ कि यह सोयी है या सोने की नकल कर रही है ।'** और फिर चैत्रवन के पुष्पों की ओट में तुम्हें लाकर प्रकृतिस्थ करने का मेरा विचार मुझे कितना हास्यास्पद लगा था, वह कहने में भी मुझे लज्जा का अनुभव हो रहा है ?

"प्राणाधिके ! स्वप्न के उस उदुम्बर वृक्ष की स्मृति लेकर तुम्हारे उस उन्माद की मुखश्री मुझे इस क्षण भी विक्षिप्त बना दे रही है ... ।"

२४. **'अरे ! इसके तो सारे परिधान गीले हो रहे हैं । तो यमुना में नहाकर आयी है, या स्वेद से भीग गये हैं इसके वस्त्र ! तो मैया ! तू इसके लिये अपने घर से लहँगा लादे और ओढ़नी भी ।** - 'तुम्ही मैं हूँ, मैं ही तुम हो । और फिर मैं भी हूँ तुम भी हो । बतलाओ मेरे हृदय ! कैसी अनुभूति हो रही है इस समय तुम्हें ।

"प्रियतमे ! प्राणाधिके !! प्राणेश्वरी !!! तुम्हारे बिना मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं, न था, न होगा ।"

नन्दनन्दन की उपर्युक्त प्रश्नावलि के अन्तराल में किसी की कृपा अभिषिक्त आँखें इन संकेतों का सुस्पष्ट दर्शन कर ही लेगीं .... इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

उपरोक्त पद व्याख्या में
पू० गुरुदेव की जीवन कथा का निहित रहस्य

इस दही बेचने वाली ग्वालिन के रूप में पू० गुरुदेव ही हैं । पू० गुरुदेव का विवेक यद्यपि उनके हृदय को स्थिर किये है, विवेक के पूर्णाश्रय से ही उन्होंने अपना जीवन पथ गृहस्थ त्याग कर सन्यासी का बनाया है, परन्तु वे सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख जैसे हैं, वैसे सुस्पष्ट हैं । उनमें कहीं भी छल-कपट दुराव नहीं है । वे भगवान् अन्तर्यामी के सम्मुख जिस प्रकार से स्वच्छ हैं,

वैसे ही विश्व के सम्मुख भी निर्मल, स्पष्ट, दुरावरहित हैं। सन्यासी के आवरण के अन्तराल में रहने पर भी किसी को किञ्चित् भी भ्रान्ति नहीं है कि वे क्या हैं ?

वाणी के द्वारा भी वे वही घोषित कर रहे हैं कि वे क्या बेचने आये हैं । वे निर्गुण निराकारवादी हैं तो वे प्रवचन करने के लिये सगुण साकारवादी नहीं है । वे स्वामी रामसुखदासजी महाराज, श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका अथवा श्रीपोद्दार महाराज भाई हनुमानप्रसादजी के सम्मुख भी शुद्ध, अद्वैत, वेदान्ती, सगुण साकार तत्व को मायोपाधिक मानने वाले ही हैं । कहीं भी छल नहीं, पूर्ण निर्मलता उनमें भरी है । वे ब्रह्मज्ञानी महापुरुष होते हुए भी, कोढ़ियों के मध्य अपने अबाध समत्व की स्वसंवेद्य परीक्षा ले चुकने पर भी यदि चीनी (मीठा) रुचिकर अनुभव करते हैं तो श्रीसेठजी को अपनी कमजोरी निष्कपटता पूर्वक बता देते हैं । अपने को ब्रह्मज्ञानी सिद्ध करने के लिये अपने दोष सर्वथा छिपाते नहीं हैं । जैसे भीतर हैं वैसे ही बाहर हैं । साधक का यही स्वरूप भगवान् को रिझाता है ।

वे अपने अद्वैत ज्ञान के ग्राहक की पुकार अवश्य कर रहे हैं परन्तु उनकी गति है, भगवान् की ओर ही । किसी अन्य वस्तु की, मान-प्रतिष्ठा, अहंपूजा, धन, वैभव की उन्हें सर्वथा इच्छा नहीं है । अपने हृदय को भगवान् के सिवाय उन्होंने अन्य किसी के लिये भी समर्पित नहीं किया है ।

पू० गुरुदेव अपनी साधना में अनवरत लगे हैं । क्षण भर के लिये भी उन्हें विश्राम के लिये अथवा इधर-उधर मुड़ने, पीछे उलटने-पलटने के लिये अवकाश ही नहीं है । वे कहीं भी विश्राम नहीं करते और तब नन्दनन्दन की जननी के कानों में जैसे ग्वालिन की पुकार पहुँचती है, ठीक वैसे ही पू० गुरुदेव की भी पुकार पू० पोद्दार महाराज जैसे सच्चे महापुरुषों के, सच्चे महासिद्धों के ध्यान को आकर्षित कर लेती है । नन्दनन्दन पर आधिपत्य है एकमात्र नन्दगेहिनी का, वैसे ही सच्चे महासिद्धों की ही निधि हैं, भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन ! मैया आती है, उसी प्रकार महासिद्ध श्रीपोद्दार महाराज भी आ ही जाते हैं, अपनी निधि श्रीकृष्ण का उन्हें दान करने । किन्तु नन्दनन्दन खरे सौदागर है, प्रीति की परीक्षा करने के अनन्तर ही अपने स्पर्श का दान, दर्शन का दान करते हैं। इसीलिये महासिद्धों की गति भी अवरुद्ध ही रहती यदि पू० गुरुदेव भगवान् श्रीकृष्ण की परीक्षा में खरे नहीं उतरते । पू० गुरुदेव की लगातार ढ़ाई-तीन वर्ष गीता विवेचनी के कार्य सम्पन्न होने तक

श्रीकृष्ण द्वारा परीक्षा ली गई । इसके पश्चात् भी पोद्दार महाराज के विषम आचरणों द्वारा उनकी लगातार परीक्षा हुई । परीक्षा समाप्त होने पर पू० पोद्दार महाराज द्वारा उन्हें दीक्षा दी गयी और तब निकुंज प्रवेश का अधिकार उन्हें मिला । उसके पश्चात् ही श्रीराधारानी के उन्हें दर्शन हुए । सभी प्रतिबन्धकों का उनके जीवन में अन्त आ गया । क्षणिक चिन्मय संस्पर्श ने जैसे ग्वालिन को अभिभूत कर लिया इसी प्रकार पू० गुरुदेव को भी नन्दनन्दन का संस्पर्श आत्मसात् कर लेता है । और तब दधि के आस्वादन की प्रक्रिया वहाँ चली ठीक इसी प्रकार संविन्मय स्वरूप विलास का पू० गुरुदेव के जीवन में भी समुद्र हिलोरें लेने लगा । ये अटपटे प्रश्न संविन्मयी लहरें ही हैं।

नन्दनन्दन की आँखें तो साधक को देखती ही नहीं हैं, वे तो स्वरूपभूता वृषभानुनन्दिनी, राधाकिशोरी, राधाकुमारी को ही देखती हैं । अतः इन प्रश्नों का अर्थ पू० गुरुदेव द्वारा रस मार्ग के साधकों के लिये तथा राधाभाव भावित रस-सिद्ध सन्तों दोनों के लिये किया है । पाठक अपने-अपने अधिकारानुसार इनमें रसावगाहन करेंगें। इत्यलम् ।।

.....

"नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर" पद की व्याख्या

घटना सन् १९३७ ई. की है । पू० गुरुदेव गोरखपुर में ही श्रीपोद्दार महाराज के सत्संग में आये थे । सत्संग के पूर्व श्रीपोद्दार महाराज ने पू० गुरुदेव से श्रीमद्भागवत के किसी श्लोक का अनुवाद करके सुनाने का आग्रह किया ।

पू० गुरुदेव ने श्रीमद्भागवत के उद्धव प्रसंग के इन श्लोकों का अनुवाद करके सुना दिया ।

यह कथन एकान्त में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्यारे सखा उद्धव से गोपीजनों के सम्बन्ध में कहा था-

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे व्यक्त दैहिकाः ।
ये त्यक्त लोक धर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम् ।।
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योंऽग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्य विह्वलाः ।।
धारयन्त्यति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ।
प्रत्यागमन सन्देशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ।।
(श्रीमद्भागवत १०/४६/४-६)

पू० गुरुदेव ने इन श्लोकों, का अर्थ करके सत्संग में सुनाया - हे उद्धव ! गोपियों ने अपने मन एवं प्राण मेरे अर्पण कर दिये हैं । मेरे लिये सारे शारीरिक सम्बन्धियों को और लोक सुख के साधनों को त्यागकर वे मुझमें अनुरक्त हो रही हैं । मैं ही उनके सुख और जीवन का कारण हूँ । गोकुल की उन स्त्रियों को मैं प्रिय से प्रिय हूँ । मेरे दूर रहने के कारण वे मेरा स्मरण करती हुई मेरे विरह में अत्यंत ही विह्वल और विमोहित हो रही हैं । मेरे शीघ्र गोकुल लौटने के सन्देश के भरोसे ही अपने आत्मा को मुझमें समर्पण कर देने वाली वे गोपियाँ बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार जीवन-धारण कर रही हैं।"

पू० गुरुदेव के श्रीमद्भागवत के श्लोक के पश्चात् पू० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी ने एक पद गायन पू० भाईजी के संकेतानुसार किया । पद था -

नाहिन रह्यौ हिय माँहि ठौर ।
नन्दनन्दन अछत कैसें आनिये हिय और ।
चलत-चितवत दिवस-जागत सुपन सोवतरात ।
हृदयते यह स्याम मूरति छिन न इत उत जात ।
कहत कथा अनेक ऊधौ ! लोक लाज दिखात ।
कहा करौ तन प्रेम पूरन, घट न सिन्धु समात ।
स्याम गात सरोज आनन, ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ।।

श्रीगोस्वामीजी महाराज यह पद गा रहे थे एवं पू० गुरुदेव के सम्मुख श्री उद्धवजी प्रकट हो गये । गीतावाटिका का वह बरामदा जिसमें सत्संग हो रहा था, सब सत्संग सुननेवाले श्रोतागण एवं श्रीपोद्दार महाराज सभी पू० गुरुदेव की दृष्टि से लुप्त हो गये । उनके सम्मुख तो मूर्त्तिमान उद्धवजी व्यक्त थे और प्रेम-रस-निमग्ना गोपी बने पू० गुरुदेव अपनी मनः स्थिति उन उद्धवजी के सम्मुख व्यक्त कर रहे थे ।

"उद्धव ! क्या करूँ, तुम्हारी बात ठीक है, पर हृदय में जगह ही नहीं - दूसरी वस्तु को, तुम्हारी चर्चा को कहाँ रखूँ ? हृदय को तुम देख लो, इसमें